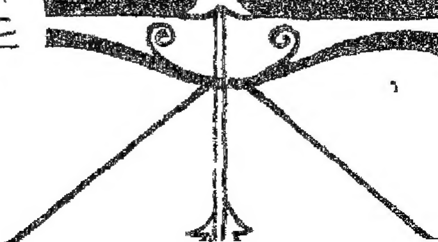




औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी

लेखक के महनीय तथा पुरस्कृत ग्रन्थ

(१) कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली, भाग १, २
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (उ०प्र०), १९६०, ६१ ई०
[उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(२) हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (उ०प्र०), १९६६ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(३) मानस-शब्दार्थतत्त्व, विज्ञानभारती, १४६७, वजीरनगर, नई दिल्ली–११०००३, सन् १९७१ ई०

(४) रामचरितमानस : वाग्वैभव, विज्ञानभारती, १४६७, वजीरनगर, नई दिल्ली–११०००३ सन् १९७३ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य तथा डालमिया पुरस्कार समिति, दिल्ली द्वारा पुरस्कृत]

(५) रामचरितमानस–भाषारहस्य, बिहारराष्ट्रभाषापरिषद्, पटना (बिहार), सन् १९७४ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत तथा बिहारराष्ट्रभाषापरिषद् द्वारा अखिल भारतीय ग्रन्थ-लेखक प्रतियोगिता में प्रथम स्थानीय घोषित होने पर पुरस्कृत तथा सम्मानित]

(६) भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग (हिन्दीभाषा-इतिहास, कोश-विज्ञान तथा शैलीविज्ञान से सम्बद्ध), सस्ता साहित्य भंडार, ५७ बी, पाकेट ए, फेज II, अशोक विहार, दिल्ली–११००५२, सन् १९८२ ई० (द्वितीय संस्करण)

(७) संस्कृति, साहित्य और भाषा, वासन्तीप्रकाशन, ८/७ हरिनगर, अलीगढ़-२०२००१ ; (शाखा) परितोष, ए-८७, विवेकनगर, सहारनपुर-२४७००१ (उ० प्र०), सन् १९७९ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(८) तुलसीकाव्य-चिन्तन, ग्रन्थायन, सर्वोदय नगर, सासनीगेट, अलीगढ़-२०२००१ (उ० प्र०), सन् १९८२ ई०

(९) गीता : एक नव्यचिन्तन, वासन्तीप्रकाशन, ८/७, हरिनगर, अलीगढ़; (शाखा) परितोष, ए-८७, विवेकनगर, सहारनपुर-२४७००१ (उ०प्र०), सन् १९८२ ई०

(१०) औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी, वासन्तीप्रकाशन, ८/७ हरिनगर अलीगढ़-२०२००१; (शाखा) परितोष, ए-८७, विवेकनगर, सहारनपुर-२४७००१ (उ० प्र०) सन् १९८३ ई०

शीघ्र प्रकाश्य ग्रन्थ

(१) तुलसीकृत कवितावली–पदकोश (व्युत्पत्तिपरक तथा व्याकरणिक)
(२) अन्तर्धारा (मुक्तक कविता-संग्रह)

सरस्वती-समर्चना का बीसवाँ सुमन

औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी

लेखक :

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

डी० लिट्०

प्रकाशक :

वासन्तीप्रकाशन

८/७, हरिनगर, अलीगढ़–२०२००१ (उ०प्र०)

(शाखा)

ए-८७, विवेकनगर, सहारनपुर–२४७००१ (उ०प्र०)

प्रकाशक : (श्रीमती) बसन्तीदेवी शर्मा
वासन्तीप्रकाशन,
८/७, हरिनगर, अलीगढ-२०२००१ (उ०प्र०)

शाखा—
ए-८७, विवेकनगर, सहारनपुर-२४७००१ (उ०प्र०)

संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०

मूल्य : रु० ६०.०० (साठ रुपये)

आवरण-सज्जा : डा० गोपाल मधुकर चतुर्वेदी
(श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़)

मुद्रक : नवयुग प्रेस, महावीरगंज, अलीगढ़ ।

इस कृति के प्राप्ति केन्द्र—

(१) (श्रीमती) बसन्तीदेवी शर्मा
वासन्तीप्रकाशन, ८/७, हरिनगर, अलीगढ-२०२००१ (उ०प्र०)

(२) डा० (श्रीमती) शारदा शर्मा, डी० लिट्०
परितोष, ए-८७, विवेकनगर (आवासविकासकालोनी)
दिल्ली रोड, सहारनपुर-२४७००१ (उ०प्र०)

AUDAATYA KE CHITERE MAHAAKAVI TULSI

by :

AMBA PRASAD 'SUMAN'

Published by :

VASANTI PRAKASHAN,

8/7, Hari Nagar, Aligarh–202001 [U.P.]

(Branch)

A-87, Vivek Nagar, Saharanpur-247001 [U.P.]



डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
(जन्म—२१ मार्च, सन् १९१६ ई०)



सादर समर्पण—

जिनके अध्ययन-लेखन से मुझे प्रेरणा मिली और जिनका सहज मौनस्नेह शीतल जलद की भाँति मुझ पर छाया करता रहा है, उन्हीं अग्रजकल्प समादरणीयवर पद्मभूषण डा० नगेन्द्र जी को साभार प्रणतिपूर्वक,

हिन्दी शोध-संस्थान
८/७, हरिनगर, अलीगढ़
२०२००१
(उ०प्र०)

अम्बाप्रसाद 'सुमन'
(६-३-१९८३ ई०)



प्रस्तुत कृति

- यह कृति मनीषी लॉन्जाइनस के उदात्त सिद्धान्त का प्रयोगात्मक रूप है।

- यह कृति औदात्य के स्वरूप एवं व्याख्या को महाकवि तुलसी के ग्रन्थो के माध्यम से प्रस्तुत करती है। वह व्याख्या सर्वत्र सप्रमाण तथा ससंदर्भ है।

- इसमें औदात्य और तुलसी के कथ्य को वर्तमान सन्दर्भ के आलोक मे प्रस्तुत किया गया है।

- इस कृति की धरित्री पर मानवता तथा नैतिकता की गंगा-यमुना-सरस्वती सहित प्रवाहित है।

- इसमे हमारी प्राचीन दिव्य संस्कृति की मनोरम झाँकी मिल सकती है। इसमे भारतीय भाषाओ की प्राय: सभी रामायणो के प्रमुख उल्लेख भी हैं।

- इसमे तुलसी के आदर्श पात्रो के माध्यम से सत्य, शील, सौन्दर्य, ज्ञान, भक्ति, कर्म, उदात्त तथा अनुदात्त का चित्राकन किया गया है। इसमे अतर्जगत् की छटा भी मिलेगी।

- इसमे तुलसी के श्रद्धेय प्रमुख पात्रो का चरित्र-चित्रण मनोरम भाषा-शैली मे प्रस्तुत किया गया है, जो प्राचीन ग्रन्थो के प्रमाणों से भी सवलित है।

- इसमे तुलसीकृत 'रामचरितमानस' एवं अन्य ग्रन्थो का वरणीय एवं ग्रहणीय सारतत्व भी मिल सकता है।

- इसमे अनुभूति की प्रभाविनी परिकल्पना और शैली-शिल्प का सौष्ठव भी मिलेगा।

विषय-सूची

★ औदात्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है। उदात्त वाणी का प्रस्फुटन उदात्त आत्मा से ही हो सकता है।

× × × ×

★ जीवनपर्यन्त जिस रचनाकार का स्वभाव और कर्म उदार, विशाल और उत्कृष्ट रहा है, वही अमर रचना दे सकता है।

× × × ×

★ उदात्त कृति पाठक को आनन्द देती है तथा उसे ऊँचा उठाती है। वह रूप में सत्व के दर्शन कराती है।

× × × ×

★ उचित प्रसंग के आलोक में सच्चे भावों की भव्यता का दिग्दर्शन कराना ही औदात्य के साहित्यकार की क्षमता है।

× × × ×

★ औदात्य के काव्य से एवं काव्य में चित्रित चरित्रों से जीवन को ऊँचा उठाने की तथा मानवीय महान मूल्यों को कर्म में उतारने की प्रेरणा प्राप्त होती है। औदात्य शिवत्वबहुल होता है।

× × × ×

★ औदात्य के लिए प्रमुख एवं सफल साधन, सरल भाषा, चरित्र-चित्रण और बिम्बविधान माने जाते है। तुलसी में ये पूर्णतया पाये जाते हैं।

पुरोवाक्

स्वर का मूलाधार नाद है। नाद तत्त्व का अर्थरूप वर्णस्फोट है। वर्णस्फोट की अनुगूँज भाषा है। शब्द तत्त्व जब बृंहित होकर अण्डाकार धारण करता है, तब वह ब्रह्माण्ड कहलाता है। ब्रह्माण्ड के अणु-अणु मे नाद होता रहता है। सूर्य के घूमने से रव (नाद) होता है। नादकर्ता होने के कारण सूर्य को 'रवि' कहागया। चन्द्र-घूर्णन से डमरू और घंटे की ध्वनि निकलती है। पृथ्वी के घूमने से वशीनाद और वीणानाद होता है। विज्ञान-वेत्ता ब्रह्माण्डीय संगीत को इलैक्ट्रोनिक यंत्रो से सुन लेते है।

'शब्द' तत्त्व जब बृंहित होकर अंडाकार धारण करता है, तब वह ब्रह्माण्ड कहलाता है''—इस कथन की व्याख्या जैनदर्शन के ग्रन्थ 'पंचास्तिका सार' मे मिलती है। अणुओ के पुंज को स्कन्ध कहते है। जैनदर्शन मे 'शब्द' पौद्गलिक है। अर्थात् शब्द अचेतन है, जड है। वैशेषिक दर्शन तो शब्द को आकाश का गुण मानता है, लेकिन जैनदर्शन कहता है कि स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। अत. शब्द एक प्रकार से कारण-कार्य सम्बन्ध से पुद्गल (पिण्ड) हुआ। जब पिण्ड ने बृंहित होकर अण्डे का आकार ग्रहण कर लिया तब उसकी संज्ञा ब्रह्माण्ड हो गयी। अणु से स्कन्ध, स्कन्धो से महापिण्ड और महापिण्डो से फिर ब्रह्माण्ड बना। ब्रह्माण्ड मे तो शब्द ही नही, महाशब्द होगा, होता रहा है, हो रहा है। अत. वाक् या भाषा महाशब्द का ही अंग है।

वैदिक मंत्रो की स्वर-प्रक्रिया में 'उदात्त' ऊँचा स्वर माना गया है। उदात्त भाव भी ऊँचा होता है। उदात्त भाववाला उदात्त व्यक्ति ऊँचा अर्थात् श्रेष्ठ होता है। विशाल हृदयवाले को उदार भी कहते हैं। उदारता के साथ-साथ जिस व्यक्ति मे धीरता भी हो, वह धीरोदात्त कहलाता है। नाटकों मे धीरोदात्त नायक को उत्तम नायक माना गया है। विख्यात महाकाव्यों के नायक प्रायः धीरोदात्त ही मिलते हैं। उत्तम संस्कृत नाटकों एवं संस्कृत महाकाव्यो मे धीरोदात्त नायको का प्राधान्य है। इससे सिद्ध होता है कि

उदात्तता का महत्त्व संस्कृत के काव्य-ग्रंथों में पूरी तरह स्वीकृत था। साहित्य-स्रष्टाओं तथा साहित्याचार्यों द्वारा यह स्वीकार भी कर लिया गया था। वैसे एक काव्य-सिद्धान्त के रूप में 'उदात्ततत्त्व' पश्चिम में ही गृहीत हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रसिद्ध यूनानी काव्यशास्त्री श्री लॉन्जाइनस उदात्ततत्त्व के प्रवर्तक तथा समर्थक माने जाते हैं।

उदात्ततत्त्ववाले काव्य में भाव और भाषा समान स्तरीय होते हैं और उच्चभूमि पर विचरण करते हैं। वेदों में वाक् (वाणी) को साक्षात् ब्रह्म बताया गया है। सूर्य यदि देवताओं का चक्षु है, तो वाक् देवताओं का कण्ठ है। ऋग्वेद में अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् कहती है कि "मैं रुद्रों तथा वसुओं के साथ घूमती हूँ। मैं आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरण करती हूँ। इस कथन में आदित्य और विश्वदेव भाव हैं, और अम्भृण-पुत्री वाक् है। वाक् ही भाषा और अर्थ के रूप में प्रकट होती है। वाक् विश्वव्यापी है, तो भाषा देशव्यापी।

लॉन्जाइनस के मतानुसार काव्य में उदात्ततत्त्व की अभिव्यक्ति, कथानक, प्रसंग, पात्र, भाषा, भाव, विचार आदि के माध्यम से होती है। महात्मा तुलसीदास के काव्यों में भी उदात्ततत्त्व कथानक, पात्र, प्रसंग, भाव और भाषा आदि में समाविष्ट है और वह उपलब्धि महाकवि तुलसी की अपनी है; विशिष्ट है।

औदात्य के काव्य का प्रधान गुण यह है कि वह मनुष्य से ऊपर किसी महान् सत्ता को मानकर चलता है। उसकी प्रेरणा का स्रोत महान् आदर्श, महान् पुरुष या महान् जीवन-मूल्य होता है। उसकी शैली गम्भीर, मन्थर और प्रभावी होती है। अर्थात् उसमें ऐसे गुण होते हैं, जो देश-काल-भेद से परे होते हैं। उसमें ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, गोरे-काले आदि का भेद नहीं होता। औदात्य के कवि के महान् विश्वासरूपी पर्वत से कविता की सरिता निस्सृत होती है। औदात्य का कवि पहले अपने में ईश्वरीय ज्योति जगाता है, तब लिखता है। वह लेखन को **धर्म** मानता है, **व्यवसाय** नहीं।

पातंजल योगदर्शन के अनुसार समाधि दो प्रकार की है—(१) **सविकल्प समाधि** (२) **निर्विकल्प समाधि**। सविकल्प समाधि का अर्थ है, विकल्प सहित समाधि। विकल्प क्या है? "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"—(योग दर्शन) (वस्तु की अनुपस्थिति होने पर ज्ञात शब्द-बिम्बों के आधार पर प्राप्त ज्ञान का नाम '**विकल्प** है।) अविद्यमान वस्तु की कल्पना करना ही '**विकल्प**

है। कवि भी यही कल्पना करता है; इसलिए कवि की कल्पना सविकल्प समाधि है। यह समाधि कवि के भावानुप्रवेश की स्थिति है, जहाँ कवि का विषय से तादात्म्य हो जाता है। विज्ञान का क्षेत्र तथ्यात्मक भौतिकजगत् है। दर्शन का क्षेत्र जीवनमूल्यजगत् है। साहित्य का सम्बन्ध दोनो से है अर्थात् साहित्य का आधार भौतिकजगत् है और उद्देश्य जीवनमूल्यजगत्।

कवि का साधन भाव है और भक्त का साधन महाभाव है। भक्त और कवि दोनो सविकल्प समाधि से सम्बद्ध हैं। जो व्यक्ति कवि भी हो और भक्त भी, उसकी सविकल्प समाधि कितनी गहनतम होगी—इसकी अवगति किसी विरले को ही हो सकती है। तुलसी ऐसे ही कवि हैं, जो कवि भी हैं और भक्त भी; इसीलिए तुलसी की मानस-भूमि मे भाव तथा महाभाव सनिविष्ट हैं। उनकी कल्पना की ऊँचाई को मात्र कवि या मात्र आलोचक पूर्णत· माप् नही सकता।

औदात्य का कवि अपने मनोराज्य मे भावानुप्रवेश की इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि तब उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्दो में सामर्थ्य नहीं होती। उन क्षणो मे वह नितान्त मौन रहता है। बुद्ध जी सात दिन तक कुछ न बोले, बिलकुल मौन रहे। क्यो? बुद्ध जी जिस अपनी उच्चतम अनुभूति को व्यक्त करना चाहते थे, उसे पालि भाषा के शब्दों मे कहा नही जा सकता था। सात दिन बाद, जब वे उस अनुभूति-शृङ्ग से उतर आये, तब शिष्यो के आगे कुछ बोले। बुद्ध जी के उस कथन से अनुमान लगाया जा सकता है कि बुद्ध का वास्तविक कथ्य क्या था? औदात्य के महाकवि का अनकहा ही वास्तविक कथ्य है।

कर्म चार प्रकार के होते हैं—(१) पुण्य कर्म (२) पाप कर्म (३) आत्म-कर्म या शुद्ध कर्म (४) व्यर्थ कर्म। दया, क्षमा, करुणा, परोपकार आदि पुण्य कर्म हैं। हिंसा, परपीडन आदि पापकर्म है। भोजन करके भूख मिटाना, पानी पीकर प्यास बुझाना आदि व्यर्थ कर्म है। ये शारीरिक आवश्यकताएँ है। इनका मन और आत्मा से कोई सम्बन्ध नही। अर्चन, वन्दन, ध्यान आदि आत्म कर्म है, जिनमे आत्मज्ञान होता है। शरीर भी चार हैं—(१) स्थूल शरीर (२) सूक्ष्म शरीर (३) कारण शरीर (४) महाकारण शरीर। कारण शरीर से ईश्वर-प्राप्ति होती है। महाकारण शरीर से जीव ब्रह्ममय हो जाता है। भक्तों के महाभाव-जगत् मे ईश्वर का महत्त्व है। भक्त ब्रह्म होना नही चाहता। भक्ति-भाव द्वैतभाव है। तुलसी की भक्ति का सम्बन्ध पुण्यकर्म

और आत्मकर्म मे है। जिस ईश्वर की प्राप्ति कारण शरीर से होती है, उस ईश्वर की प्राप्ति भक्ति के द्वारा भक्त को स्थूल शरीर से हो जाती है। भक्तों द्वारा गृहीत कर्म (पुण्य कर्म और आत्मकर्म) ही इहलोक–परलोक मे जीव को आनन्द प्रदान करते है। भक्तो के इहलोक का स्वरूप ही औदात्य का स्वरूप माना जा सकता है।

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य के अन्तर्गत तुलसी मे जितना अधिक उदात्ततत्त्व मिलता है, उतना किसी अन्य कवि मे शायद ही मिले।

विख्यात विद्वान् हेगेन का मत है कि प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु भी होती है। 'वाद' और 'प्रतिवाद' के सघर्ष से 'संवाद' का जन्म होता है। औदात्य के कवि के काव्य मे सवाद के स्वरूप की व्याख्या एव मीमासा रहती है। प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् मे सुप्रवृत्ति और कुप्रवृत्ति का निवास है। इन 'सु' और 'कु' मे सघर्ष होता है। इसे ही कुछ आत्मवादी मनीषियो ने आत्मा और मन का सघर्ष भी बताया है।

महाकवि तुलसी के द्वारा चित्रित राम-रावण-युद्ध ऐतिहासिक कथा ही नही है; अपितु नैतिकता की व्यापक व्याख्या को प्रस्तुत करने के लिए वह मानव के अन्तस् के 'सु' और 'कु' का सघर्ष भी है। 'सु' राम है, तो 'कु' रावण है। ससार के प्रत्येक मनुष्य के अन्दर यह राम-रावण-युद्ध चलता रहता है। 'सु' अर्थात् आत्मा विजयी हो गयी, तो मनुष्य ऊपर उठ जाता है। 'कु' अर्थात् विकृत मन विजयी हो गया, तो मनुष्य नीचे गिर जाता है। यह सघर्ष व्यक्ति के स्तर पर ही नही, समाज के स्तर पर भी चलता है।

निकटतम भूत मे नोबल पुरस्कार विजेता श्री ग्रेबरलिग्रेशिया मारक्विज का कथन है कि "लेखक का अपना दायित्व यही है कि वह सही लिखे और अच्छा लिखे। लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सत्ता के प्रभाव से दूर रहे। उसके लिए एकान्त भी जरूरी है।"

महात्मा तुलसी के जीवन मे ये सभी बातें मिलती हैं; इसीलिए तुलसी एक सच्चे साहित्यस्रष्टा माने जाते हैं। अकबर के शासनकाल मे जनमे महात्मा तुलसी तत्कालीन शासन-सत्ता के प्रभाव-वृत्त मे सदा दूर ही रहे। उनके लिए अकबर राजा न था, राम राजा थे।

औदात्य के काव्य का एक प्रमुख गुण यह भी है कि वह पाठक को चिन्तन के लिए पर्याप्त स्थल प्रस्तुत करता है। वे स्थल शब्द, भाव, विचार, कथन, प्रसंग, अन्तःकथा आदि से सम्बद्ध हो सकते हैं। श्रीराम के साथ वन आने मे

लिए साग्रह निवेदन करनेवाली सीता जी से श्रीराम कहते हैं—"सीते ! वन चलने का हठ मत करो। मुनि गालव और राजा नहुष ने हठ के कारण बहुत कष्ट पाये थे।" (मानस, अयो०, ६१/-)। श्रीराम के इस कथन को पढ़ते ही **'मानस'** का पाठक, चिन्तन करने लगता है कि गालव और नहुष ने क्या और क्यों कष्ट सहे थे ?

औदात्य का चित्रकार कवि नायक पात्र को तो जीवन की नैतिक ऊँचाइयों पर दिखाता ही है, उसके साथ-साथ प्रतिनायक के सद्गुणों को भी उतनी ही ऊँचाई पर प्रस्तुत करता है। रावण में अन्य अनेक अवगुण हैं, किन्तु वीरता का गुण उसमें विशिष्ट है और वह एक सद्गुण है। तुलसी अपने **'मानस'** में राम-रावण युद्ध के समय रावण की युद्ध-वीरता को उतनी ही ऊँचाई पर दिखाते हैं। राम जैसे वीर नायक के समानान्तर रावण जैसे प्रतिनायक की युद्ध-वीरता उतनी ऊँचाई पर दिखानी भी चाहिए। मिल्टन ने भी **'गॉड'** (God) के समानांतर **'शैतान'** को उतनी ही ऊँचाई पर अपने **'पैरैडाइज लॉस्ट'** में दिखाया है।

औदात्य के साहित्यकार की दृष्टि बहुत उज्ज्वल और पवित्र होती है। सामान्य साहित्यकार नारी के स्तनों में नारी-यौवन का उभार देखता है, मांसल शृङ्गार देखता है; लेकिन औदात्य का साहित्यकार उन्हीं स्तनों में सारी मानव-जाति को पोषण तथा पुष्टता प्रदान करनेवाली दुग्धदायिनी मातृ-शक्ति देखता है।

औदात्य का साहित्यकार अन्दर आत्मा में देखता है। अन्दर के स्रोत से निःसृत शब्दों की वह अर्थ स्फोटक धारा है, जहाँ प्राणदायिनी शक्ति स्रष्टा साहित्यकार को महान् दिव्यलोक के दर्शन कराती है। उसी आन्तरिक स्रोत की ऊर्जा हृदय में दिव्य भाव और बुद्धि में दिव्य विचार को जन्म देती है।

औदात्य के कवि की **धी, धृति** (मति) और **स्मृति** उदात्त हृदय की अनुगामिनी होती है। बुद्धि को ही **धी** कहते हैं। बुद्धि को ठीक तरह सँभाले रखनेवाली शक्ति का नाम **धृति** है। पहले किये कार्य तथा दृश्यादि को याद रखनेवाली शक्ति का नाम **स्मृति** है। धृति में विवेक निवास करता है। जिस व्यक्ति की **धी, धृति** और **स्मृति** नष्ट हो जाती है, वह प्रज्ञापराध करने लगता है। हृदयहीन **धी** और **धृति** समाज का कल्याण नहीं कर सकती। औदात्य का स्रष्टा साहित्यकार इतना विशालहृदय होता है कि उसके आँगन में **धी**

धृति और स्मृति आनन्द से प्रेमपूर्वक विचरण करती है। उन्हें वह आँगन प्रिय होता है।

विशालहृदय से तात्पर्य है श्रद्धाविश्वाससमन्वितहृदय। श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, भक्ति आदि भाव हृदय के प्रांगण में ही निवास करते हैं। श्रद्धा और सन्देह एक दूसरे के विलोम हैं। श्रद्धा कहती है कि पहले पानी में उतर जाओ, तैरना आजाएगा। सन्देह कहता है कि ऐसी मूर्खता मत करना कि तैरना सीखे बिना पानी में उतरने लगो। पानी में उतरे, कि डूबे, क्योंकि तैरना नहीं आता। तैरना सीखना है, तो श्रद्धापूर्वक पानी में उतरना ही होगा। सन्देह कभी तैरना सिखा नहीं सकता। तैरने के इच्छुक को बिना सन्देह पानी में उतरना होगा। औदात्य का स्रष्टा साहित्यकार श्रद्धा-विश्वास में आस्थावान् होता है।

संसार में सन्देहशास्त्र का मूर्धन्य पंडित हुआ है, मैक्येवली। उसने राजनीतिज्ञों को एक पुस्तक लिखी थी 'दि प्रिंस'। यूरोप में उस पुस्तक का बड़ा प्रचार हुआ। मैक्येवली कहता है कि "मित्र का भी विश्वास मत करो, पता नहीं कब दुश्मन हो जाए?" मैक्येवली गरीब हालत में मरा। रोटी-कपड़े को भी तंग रहा। किसी ने भी उसे अपने यहाँ नहीं रखा। वह बेईमानी के सम्बन्ध में जरूरत से ज्यादा जानता था। सन्देहसमन्वित बुद्धिवाले मनुष्य मैक्येवली की तरह जीवन में कष्ट पाते हैं। सन्देह को जीवन की अंधेरी और उष्ण कोठरी मानकर औदात्य का साहित्यकार कभी उसकी ओर मुँह भी नहीं करता।

श्रद्धा-विश्वास की दृढ़ता का नाम 'भावना' है। भावना की जन्मभूमि हृदय है। भावना रूखी-सूखी वस्तु को स्वादिष्ट और सरस बना देती है। सुदामा के तन्दुलों में दिव्य स्वाद था, सुदामा की भावना के कारण। विदुर के साग में दिव्य स्वाद था, विदुर की भावना के कारण। गीता (२/६६) में कहा गया है कि अयुक्त (असंयमी) में भावना नहीं होती। श्रीकृष्ण सुदामा और विदुर के हाथ बिक गये थे, भावना के ही कारण।

भक्ति में भावना ही प्रधान है। भाव-भावना का आलम्बन भगवान् होते हैं? इसलिए भावों में स्वतः पवित्रता आ जाती है। भक्ति के लिए भगवान् कृपा और सद्गुरु के वचन पर विश्वास अनिवार्य है।

भक्ति में काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष आदि सभी कुछ भगवान् पर निछावर हो जाता है। भारतीय दर्शन साहित्य में शाण्डिल्य- नारद अंगिरा

हरिहरवंश आदि भक्तिदर्शन के प्रमुख आचार्य हुए है। लगभग सभी ने भाव-परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया है। भगवान् चाहे हमारे सखा हो, स्वामी हो या माता-पिता हों, उन्हे आलम्बन मानने पर ही भाव-परिवर्तन होता है। योग की भाँति भक्ति मे चित्तवृत्तियो का निरोध नही करना पड़ता। कर्मपरिवर्तन की भी प्राथमिक अनिवार्यता पर भक्ति में बल नही दिया जाता और न शरीर तथा मन पर शासन-आसन करना पड़ता है। काम लोभ, क्रोध, मोह आदि विकारो के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि को भक्ति नही स्वीकारती। भक्ति तो यह मानती है कि हृदय मे भक्ति-भाव के उदय होते ही मन स्वत. ही पवित्र हो जाता है। उसमे सद्गुणों का जन्म हो जाता है; क्योकि मन का आलम्बन जगत् नही भगवान् है। महात्मा तुलसीदास कहते हैं—

"भक्ति प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे, कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।"

(मानस, सुंदर, श्लोक २)

दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि कोई भी भाव हो, भगवान् के प्रति होने पर सब गंगाजल के समान हो जाएँगे। एक बार का काम, मोह या क्रोध भी हो; यदि उसका आलम्बन भगवान् हैं, तो भाव परिवर्तित हो जाएगा। भगवान् का बड़ा सहारा स्वीकारने पर संसार का छोटा सहारा स्वत छूट जाता है। जब संसार छूट जाता है, तब सांसारिकता की कलुषता भी छूट जाती है। नसेनी के ऊपरी डडे को पकड लेने पर नीचे के डडे की ओर किसी का ध्यान जाता ही नही। भाव-शुद्धि के लिए 'भक्ति' 'योग' की अपेक्षा सुगम है। भक्ति मानव-हृदय को उदार बनाती है, विशाल बनाती है, वैष्णव बनाती है और उदात्त बनाती है।

औदात्य का कवि यह मानता है कि कविता जीवन पहले है, कला बाद में। औदात्य का कवि जीवन के सुंदर पक्ष पर ही दृष्टि रखता है। एक पाश्चात्य साहित्यकार हुआ है, शिलर। शिलर ने जीवन के सुन्दर पक्ष को खोलकर रखा है। सामान्य यथार्थवादी कवि स्त्री, धन आदि मे जागता है। औदात्य का कवि आत्मा मे जागता है। काम और अर्थ औदात्य के कवि के लिए रात्रि हैं, वह नही सोता है—

"यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।"

(गीता०, २/६९)

गीता के १७वे अध्याय मे श्रीकृष्ण के द्वारा वाङ्मय तप की व्याख्या की गयी है। गीता (१७/१५) में कहा गया है कि अनुद्वेगकर सत्य

प्रिय और हितकारी वचन को **वाङ्मयतप** कहा जाता है। औदात्य की वाणी वास्तव मे वाङ्मयतप है।

औदात्य के कवि का हृदय, बुद्धि और आत्मा बहुत उच्च और विशाल होते है। जीवन-मूल्यों के उदात्त भावो का विशाल वट वृक्ष उसके ही भूखण्ड रूपी हृदय मे उग सकता है और लहलहा सकता है। सामान्य कवि के हृदय के गमले मे उन भावो का वट कभी उगकर संवर्धन प्राप्त नही कर सकता, क्योकि उन भावो का वट वृक्ष आकाश में जितना ऊँचा जाता है, उसकी जडे भूमि मे उससे भी अधिक नीचे जाती हैं।

औदात्य का साहित्यकार जीवन के सद्धर्म मे आस्था और विश्वास रखता है। उसका धर्म इसी लोक का धर्म होता है। जीवन के उदात्त करणीय कर्म ही उसके धर्म होते हैं। मानव-जीवन के, मानव-समाज के तथा विश्व-नैतिकता के दायित्वों को उसका धर्म समाविष्ट कियेहुए होता है। औदात्य के साहित्यकार का धर्म रिलीजन, संप्रदाय या मजहब से पृथक् होता है और ऊँचा भी। उसके धर्म के ईश्वर, आत्मा, अवतार आदि समष्टिव्यापी होते हैं। वे देश-काल की सीमाओं मे आबद्ध नहीं होते। वे मात्र धरती के ही नही, आकाश-पाताल के भी होते हैं। विश्वीय ही नही, ब्रह्माण्ड भी होते हैं।

औदात्य का साहित्यकार मानवीयता का नेता होता है। सामान्य जनो की आवाज होता है। दलितो का दर्द उसका दर्द होता है। दीनो की टीस उसकी टीस होती है। विश्व की पीडा उसके प्राणो की पीडा बनती है। उसके साहित्य मे विश्वसंस्कृति की झाँकी प्राप्त होती है।

उपासना के प्रमुख स्तर तीन है—(१) यंत्र उपासना (२) तंत्र उपासना (३) मंत्र उपासना। यंत्र उपासना, यंत्र (मशीन) या अन्य वस्तुओ के साधनो से शरीर द्वारा की जाती है। जादूगरी यंत्रसाधना के अन्तर्गत आती है। इसे जीवन-यापन का एक धन्धा भी माना जा सकता है।

तंत्र उपासना सासारिक है। यह मन को एकाग्र करने के लिए की जाती है। यह सत्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी भी होती है। सत्ताधिकार-प्राप्ति के लिए रजोगुणी तंत्रोपासना की जाती है। विरोधी को पीडा पहुँचाने के लिए या उसके प्राणान्त के लिए तमोगुणी तंत्रोपासना की जाती है। घात चलाना इसी के अन्तर्गत है। सत्वगुणी तंत्रोपासना सर्वमगल के लिए की जाती है। तान्त्रिक इस सत्वगुणी उपासना को प्राय: कम करते हैं। मंत्र-उपासना प्राप्ति

मात्र का कल्याण करने के लिए ही विशिष्ट मंत्र द्वारा किसी विशिष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए की जाती है। मंत्रोपासना पूर्णतया जनकल्याण के लिए ही होती है।

औदात्य के साहित्य को इस साहित्यकार की मंत्रोपासना कहा जा सकता है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है जनकल्याण। उस जनकल्याण मे वीर, करुण या शान्त रस का प्राधान्य होता है।

भारत मे कविशिरोमणि कालिदास यूनान के होमर और ईरान मे महाकवि फिरदौसी वीर रस के कवि हुए हैं। कालिदास ने रघुवंश मे इक्ष्वाकु-वंशी राजाओ की गुणगाथा गायी है। होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' वीर-गान ही हैं। फिरदौसी ने अपने 'शाहनामा' मे ईरान के वीर राजाओ का यशोगान ६०००० छन्दों मे गाया है। यह वीरत्वगान औदात्य से परिपूर्ण है। फिरदौसी ने ३५ वर्षों तक साधना करतेहुए शाहनामा लिखा था।

साहित्यकार मे अनुदात्ततत्त्व क्या है? अनुदात्ततत्त्व वह है, जो स्वार्थ के सिवाय और कुछ नहीं सोचता। उदात्ततत्त्व वह है, जो स्वार्थ को छोड़कर अपने समाज के लिए, अपने राष्ट्र के लिए तथा सम्पूर्ण विश्व के लिए ही सदा सोचता है और करता है।

प्रेमचन्द की डायरी मे दूध-चीनी का हिसाब, कहानियो के कुछ प्लॉट और कुछ सूत्र भी रहते थे। उन सूत्रो मे एक सूत्र यह भी लिखा हुआ था—**"बिना पहले अपने आपको उठाये कोई साहित्यकार अपने साहित्य से जनता को नही उठा सकता।"**

स्वार्थ से शरीर बढता जाता है, आत्मा सिकुडती जाती है। स्वार्थ से शरीर उठता जाता है, आत्मा बैठती जाती है। स्वार्थ से मन की शाखाएँ आकाश मे फैलती जाती है और आत्मा की जड़े निर्बल होकर सूखती जाती है। औदात्य का साहित्यकार आत्मा को पुष्ट बनाने की तथा उसे उठाने की प्रेरणा और स्फुरणा अपने साहित्य के माध्यम से समाज को प्रदान करता है। वह व्यक्ति से व्यक्ति को, समाज से समाज को और देश से देश को मिलाकर सम्पूर्ण विश्व को एक बनाता है। औदात्य के साहित्यकार के समक्ष तस्वीर रोटी-पैसे की ही नहीं होती, उसकी लेखनी उदात्त जीवन की उच्च नैतिकता का भी चित्र खीचना चाहती है।

एक विद्वान् हुआ है किंग्सले। उसने स्वतंत्रता के दो भेद माने हैं—एक सच्ची स्वतंत्रता, जिसमें हम वही करने के लिए स्वतंत्र हैं, जिसे हमें नैतिक

दृष्टि से करना चाहिए। दूसरी झूठी स्वतंत्रता, जिसे 'उच्छृङ्खलता' भी कह सकते हैं। झूठी स्वतन्त्रता मे हमे उलटा-सीधा सब कुछ करने की आजादी है। औदात्य का साहित्यकार सच्ची स्वतत्रता के अर्थों को ठीक-ठीक समझता है और समझाता भी है।

आज हिन्दुस्तान के सारे शहर साँपों से भर गये है। गाँवो के पर्वों, मेलो और त्यौहारों का बहुरंगी रस भी सूखता जा रहा है। ग्राम्य लोक-गीतों की स्वरलहरी से भरीहुई मुग्धा बयार अब शीतलता त्यागती जा रही है। बेपढ़े ग्रामीण जो अपनी ईमानदारी के लिए इतिहास बन गये थे, उनके पूतो की करतूतें अब मत पूछिए। इसका कारण क्या? यह, कि समाज मे से बहुत-कुछ औदात्य उठ गया है; औदात्य की क्रियाशीलता उठ गयी है।

तुलसी की भक्ति सदाचरणमूला है। तुलसीदास नैतिकताहीन भक्ति को पाखण्ड मानते है। अध्यात्मरामायण मे भक्ति से ज्ञान–प्राप्ति मानी गयी है और ज्ञान को मुक्ति का साधन। कर्म की प्रधानता के साथ तुलसी ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा माना है। तुलसी के मत मे ज्ञान आक है, भक्ति कामधेनु; ज्ञान दीपक है, भक्ति चिन्तामणि, ज्ञान पुरुष है, भक्ति नारी।

गोस्वामी तुलसीदास की यह प्रमुख विशेषता रही है कि वे उदात्त तत्त्व को सत्पात्रो के चरित्रों द्वारा अभिव्यक्त करने मे सर्वाग्रणी सिद्ध हुए हैं।

तुलसी के सत्पात्रों के चरित्र-चित्रण के माध्यम से औदात्य की व्याख्या करना इन पंक्तियों के लेखक का प्रमुख लक्ष्य रहा है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के पात्रो मे से प्रमुखत उन्हीं पात्रो को यहाँ लिया गया है, जिनके चरित्र-चित्रण से समाज में मानवीयता की तथा उदात्त जीवन-मूल्यों की रक्षा हो सकती है।

तुलसी के 'मानस' के राम मुनि वाल्मीकि के शब्दों में 'श्रुतिसेतु' हैं। रामरूपी सेतु ने कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा को मिलाया है। तभी समाज के अन्याय और अत्याचार का नाश हुआ। राजा दशरथ कर्मनिष्ठ, अपने में संतुष्ट। राजा जनक ज्ञाननिष्ठ, अपने में सन्तुष्ट। श्रीराम ने जब सीता विवाह के माध्यम से दोनो को मिला दिया; तभी अधर्मरूपी रावण का विनाश हुआ। सीता भक्ति है। भक्ति के माध्यम से कर्म और ज्ञान गले मिलते हैं। भक्तिभाव के साथ कर्म और ज्ञान मिले कि अधर्म का नाश हुआ। कर्म, ज्ञान, और भक्ति की समष्टि मे औदात्य के निर्माण की शक्ति निहित है।

आज हमारा समाज आचार-विचार की दृष्टि से महापतन के कगार पर खड़ा है। इस समय काम और अर्थ की आँधी विकट वेग से चल रही है। स्वीडन विश्व में सर्वाधिक मुक्तयौन देश है। वहाँ ९९ प्रतिशत विवाहेतर जीवन जीनेवाले हैं। नार्वे, डेनमार्क, फिनलैंड, फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल, ब्रिटेन, और सोवियत संघ में भी यौनमुक्तता फैल गयी है।

काम और अर्थ की आँधी में अर्थ की आँधी अधिक भयकर है। काम को यही बल देती है। हिंसा और काम से परिपूर्ण फिल्मों के उद्धत नायकों के चरित्र भी गर्हित काम और अर्थ को बल दे रहे हैं। यह ऐश और अर्थ की आँधी उस भारत देश में जोरों पर है, जिसकी दो तिहाई आबादी दीनता की रेखा से नीचे जिन्दगी बिता रही है।

जो इन्द्र के वज्र से, शकर के त्रिशूल से, काल के दण्ड से अथवा विष्णु के चक्र में नहीं मर सकता; उसका मानवत्व काम और अर्थ की लोलुपता से विनष्ट हो जाता है। बौद्धधर्म की पुस्तक 'धम्मपद' में कहा गया है कि, "जो भोगविलास के जीवन में खोयाहुआ है, उसे कामवासना वैसे ही गिरादेती है, जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को।"

महाभारत में एक घटना-प्रसंग है, जिसमें यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है कि वह कौन-सा जीव है, जिसके दिल नहीं होता ? आज युधिष्ठिर होते तो उत्तर देते कि पैसेवाले में दिल नहीं होता।

ईसाइयो की धर्मपुस्तक 'बाइबिल' की दो संहिताएँ हैं—(१) ओल्ड टेस्टामेंट (२) न्यूटेस्टामेंट। 'न्यूटेस्टामेंट' मूलत ग्रीक भाषा में लिखी गयी थी। इसमें ईसा के उपदेश संगृहीत हैं। ईसा ने एक पर्वत पर चढ़कर लोगो को उपदेश दिये थे। उनमें एक उपदेश अर्थलोलुपता पर गहरा व्यंग्य करता है। ईसामसीह कहते हैं, "मैं तुमसे सच कहता हूँ कि धनवानो का स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना कठिन है। सुई के छेद में होकर ऊँट का जाना सभव है; लेकिन ईश्वर के राज्य में धनवान् का जाना सभव नहीं।"

क्राइस्ट के समर्थक अनुयायियो ने सिक्कों का धन्धा करनेवाले लोगो की फडों को चर्चो के आँगनों से खीचकर बाहर फिकवा दिया था। विश्व के मेधावी मनीषियो ने धन के अवगुण को बहुत पहले ही जान लिया था; इसीलिए उनके द्वारा यह निर्णयात्मक निर्देश दिया गया था कि समाज का सर्वोत्तम पुरुष वह होगा, जो पैसे को न छूएगा और उसका नाम होगा सन्यासी। ब्राह्मण वह होगा जो ज्ञान के लिए समर्पित होगा और निर्धनता

को अपनी शोभा मानेगा। जैनधर्म में तो पंचमहाव्रतों में अपरिग्रह को ही प्रधानता दी गयी थी। हज़रत मोहम्मद ने तो सूद लेने को हराम करार दिया था। कार्ल मार्क्स ने पूँजी के दुर्गुण को पहचानकर निर्णय दिया था कि पूँजी व्यक्ति या वर्ग के हाथों में न रहकर राज्य के हाथों में रहनी चाहिए। राज्य का अपना कोई स्वार्थ नहीं हो सकता; वह पूरे समाज का प्रतिनिधि है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी समझाया कि असली मूल्य मानव का श्रम (कर्म) है। श्रम (कर्म) से बचकर जो पैसे से पैसा कमाते हैं, वे समाजिक चोर हैं, पापी हैं—"**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**" (गीता, २/४७)। महाभारतकार श्री वेदव्यास ने भी बताया था कि "जो अर्थ (धन) में पवित्र है, वही वास्तव में पवित्र है।" अन्याय से अर्जित धन में से किया दान दानकर्त्ता की रक्षा नहीं कर सकता। चाणक्य ऐसे धन को पिशाच कहता है। भारत के ऋषियों ने धन के दोषों को पूरी तरह से जान लिया था। वही धन आज के मनुष्य की आँखों में चौबीस घण्टे समाया रहता है। आज का आदमी धन-प्राप्ति के लिए क्या-क्या कुकर्म नहीं कर सकता। अर्थ के लिए आज का मनुष्य अपनी पत्नी को भी मार देता है। "**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**" (कठ० १/१/२६)। लम्बी गुलामीवाले इस स्वतन्त्रराष्ट्र के समाज का शिक्षण-प्रशिक्षण गलत है; इसीलिए समाज ने पैसे को यश का आधार बना दिया है। ईमानदारी और पैसे में मनुष्य पैसा चुन लेता है, क्योंकि गलत साधन से कमाया पैसा भी उसे प्रतिष्ठा दे रहा है। इस मानसिकता को औदात्य का साहित्य ही बदल सकता है। समाज को सत् शिक्षा बदलेगी और सत् शिक्षा का आधार औदात्य का साहित्य बनेगा।

'**वैश्य**', '**वणिक**' और **बनिया**'-ये तीन शब्द हैं। घटिया वृत्तिसूचक **बनिया**' घटिया शब्द है। जब किसी राष्ट्र में बनियावृत्ति के लोग अधिक संख्या में हो जाते हैं, तब वह राष्ट्र रसातल को चला जाता है। बनिये के प्राण धन में बसते हैं। **सम्पत्ति, स्वर्ण, वित्त, हिरण्य** आदि धन के पर्यायरूप हैं। बनिये का परम जीवनलक्ष्य पैसा बन जाता है। वह भगवान् से भी पैसा छीन सकता है। पैसे के लिए बनिया अपमान भी सह सकता है, झूठ बोल सकता है और नरसंहार करवा सकता है। बनिये के हृदय की मानवता अथवा मानवीय सुवेदना समाप्त हो जाती है। बनिया अपने सुख या स्वार्थ के लिए धन का दान कर सकता है, समाज-सुख के लिए नहीं। **बनिया** मानवता में बहुत ही हीन है, नीचा है। **बनिया** जाति नहीं, मनुष्य की महादूषित वृत्ति है, महालोभमयी प्रवृत्ति है।

हमारे मन पर बनियावृत्ति हावी हो गयी है या नही ?—इसका पता हम सुगमतापूर्वक निम्नांकित प्रश्नों के उत्तरों से स्वयं लगा सकते हैं—

(१) हम अपने नौकरों को निवास, वस्त्र और भोजन की दयनीय स्थिति में देखकर विह्वल होते हैं या नही ? यदि विह्वल नही होते, तो हमारे मन पर बनियावृत्ति सवार है।

(२) यदि हमारा नौकर हमारा तथा हमारे घर का सारा काम करके दोपहर मे कुछ विश्राम करता है, तो हमे संतोष मिलता है या झुंझलाहट आती है ? यदि झुंझलाहट आती है, तो हमारे मन पर बनियावृत्ति आसन जमाकर बैठ गयी है।

(३) यदि हम घर में अपने बच्चो में बैठकर कोई बढिया चीज खाते हैं और तब पड़ोसी के कुछ बच्चे हमारे पास आजाते हैं, तो हमारे मन पर क्या प्रभाव पडता है ? यदि उस समय उन पड़ोसी-बच्चो के प्रति हमारा घृणापूर्ण दुर्भाव जगता है, हम उन्हें दूर भगाना चाहते है, तो समझ लीजिए कि हम पूरे बनिये हैं। बनिये ही नहीं, घटिया बनिये है। घटिया बनिया दो पैसे के लिए दस बार झूठ बोल सकता है।

(४) यदि हमारा उपकारी या हमारी विपत्ति में सहायक व्यक्ति हमारे घर पर अपनी कुछ सहायता के लिए आता है और हम उसके साथ इसलिए नही जाना चाहते कि उतने समय में हमारी पर्याप्त आर्थिक हानि होजाएगी, तो समझ लीजिए कि हमारा स्वार्थी मन बनियेपन की कीचड मे बहुत बुरी तरह फँस गया है। बनियावृत्ति की प्रमुख पहचान यह है कि उसमें क्रान्ति जन्म नही ले सकती।

जब बनियापन एक व्यक्ति में ही नही, अपितु समाज के एक पूरे वर्ग मे जम कर बैठ जाता है, तब भुखमरी ताण्डव करने लगती है। सन् १९४३ ई० मे बंगाल में भुखमरी ताण्डव कर रही थी। सड़कों पर पड़ी लाशो पर बैठकर चील-कउए महामहोत्सव मना रहे थे और उन्ही सड़कों की दुकानों मे तथाकथित दानवीर-धर्मात्मा बनियो के हज़ारो-लाखों मन अनाज के कसेहुए बोरे भरेहुए थे। तब अनेक शैतान वहाँ कंकालावशेष भूखी मानवता को अपनी शय्याओं पर आने के लिए लालच भी दे रहे थे। बंगाल में यह सब कुछ बनियों की आँखों के आगे हुआ था।

आज लगभग प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अर्थ बन गया है। जिस प्रकार भी बने, पैसा कमाना चाहिए। अर्थ को साधन और साध्य बनाकर

आज का मनुष्य सभी प्रकार के भ्रष्टाचरण करता है, कर रहा है। पति अधिक दहेज की प्राप्ति के लिए पत्नी को मौत के घाट उतार रहा है। देश में जितनी भी घटनाएँ, लूटमार, डकैती, कत्ल, बलात्कार आदि की, होती हैं; उनके मूल मे प्राय: हमारे अमीरज़ादे ही होते हैं। वे अमीरज़ादे भ्रष्टाचारियो, लुटेरो, डकैतों तथा क्रूर हत्यारो को प्रश्रय देते हैं। पैसा उन अमीरज़ादो की आँखों को विकृत कर देता है। पैसे के मद मे वे सब कुछ उल्टा सीधा करते रहते हैं।

धनाधिक्य होने पर मनुष्य को अपने शरीर को वस्त्रालंकरण से सवाँरने-सजाने की इच्छा जग जाती है। इससे मन की वासनाओ को वल मिलता है। बलवती वासनाएँ मनुष्य को फांसकर नीचे गिराती रहती हैं। वासनाएँ असख्य है, अत: प्रवृत्ति मे सच्चा सुख नही, अपितु निवृत्ति मे ही सच्चा सुख मिल सकता है। सयमित मन मे ही सदाचरण (धर्म) का अकुर उग सकता है।

अमीर घरों के बच्चो की देख भाल और पालन-पोषण प्राय: आयाओं द्वारा तथा पब्लिक स्कूलो के हॉस्टलो मे होता है। अत: माता-पिता का नैस-र्गिक प्यार उन्हे नही मिल पाता। धनाढ्य माता-पिता प्राय. क्लबों की जिन्दगी बिताते हैं, उनके बच्चे उपेक्षित रहते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके बच्चे जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व से वचित रह जाते हैं। माता-पिता खडित, तो बच्चे भी खंडित। अमीरजादे अनाप-शनाप जेब-खर्च पाते हैं; इसलिए उनका जीवन विलासी, विद्रोही तथा उच्छृंखल बन जाता है। एक मनोविद् समाज-शास्त्री ने वर्तमान भारतीय समाज का अध्ययन करके कहा था कि, "मनुष्य को सन्तान अपनी और स्त्री परायी प्रिय होती है।" आज अमीर घरानों के विषय मे कहा जा सकता है कि उन्हे अपनी सतान अप्रिय और स्त्री परायी प्रिय है।

प्रेमचन्द कहा करते थे कि "अगर किसी आदमी ने लक्ष्मी-पूजा से अपने को अलग न कर लिया हो, तो मेरे लिए उसमें कोई आकर्षण नही रह जाता।"

औदात्यहीन साहित्य ने हमारे देश को बहुत गिराया है। अब आये दिन हिंसात्मक उपद्रव होते ही रहते हैं, अपराध निरन्तर बढोत्तरी पर हैं। भ्रष्टा-चार आम हो गया है। पृथक्‌तावाद गहरा उतरता जा रहा है। राष्ट्रवाद क्षेत्रवाद में बिखर गया है। देश की दलगत राजनीति ने जातिवाद को और

अधिक पुष्ट बनाया है। इस दुर्गन्ध को औदात्य का साहित्य ही मिटा सकता है।

औदात्य का साहित्य हमें पूर्ण चेतना को देखने के लिए प्रेरित करता है। मानव की 'चेतना' क्या है ? 'चेतना' वह सपूर्ण क्षेत्र है, जहाँ विचार कार्य करता है। दूसरों के साथ हमारे जो और जैसे सम्बन्ध होते हैं, वे सब चेतना की भूमियाँ हैं। चेतना के क्षेत्र मे ही नीयत, इच्छा, सुख, दु ख, भय, आशा, विषाद, प्रेरणा, कामना आदि रहती हैं। संपूर्ण चेतना को देखने की शक्ति रखनेवाला ही पूर्ण मानव माना जा सकता है।

प्राय. हम खंडित जीवन जीते हैं। हम जान बूझकर दुहरे खेल खेलते रहते हैं। हम अपने को बाहर बडा मृदु और सरल दिखाते है; लेकिन अन्दर बडे कठोर तथा क्रूर होते हैं। हम ऊपर तो पडोसी से बहुत प्यार की बाते करते हैं; लेकिन भीतर उसे मार डालने का षड्यन्त्र रचते है। इस दुहरे व्यक्तित्व को सच्ची चेतना मे देखनेवाला और समष्टि का सच्चा कल्याण चाहनेवाला ही मानवता की ऊँची सीढियो पर चढ सकता है। उन सीढियों के दर्शन हमे औदात्य का साहित्य ही कराता है।

उन सीढ़ियो की ओर बार-बार ध्यान जाना मानव के लिए उच्च भूमियो का तैयार होना है। 'ध्यान' का क्षेत्र 'एकाग्रता' से विस्तृत होता है। एकाग्रता मे हम उन वस्तुओ को छोड देते हैं, जो हमारे प्रमुख लक्ष्य से पृथक् होती है। ध्यान में अच्छा-बुरा, लक्ष्य-अलक्ष्य आदि सब कुछ होता है। 'एकाग्रता' 'ध्यान' की व्यष्टिमयी विशिष्ट केन्द्रीभूत प्रक्रिया है।

ईशावास्य उपनिषद् मे ऋषि ने ठीक ही कहा है कि "सत्य का मुख स्वर्ण-पात्र से ढका हुआ है।" स्वर्ण मे सर्वाधिक नशा होता है। कनक (धतूरे) से कनक (स्वर्ण) मे मादकता निश्चितरूप से अधिक है। वह सत्य के दर्शन करने मे पूर्णरूपेण बाधक है। जहाँ अर्थ दृष्टि प्रधान होगी, वही समाज पतन के गर्त मे जा गिरेगा। आज चरित्र को धकेल कर अर्थ ही समाज पर शासन कर रहा है। किसी भी निकृष्ट साधन से पैसा कमाया हो, वह पैसेवाला समाज मे सिरमौर बन जाता है, उसमे सब गुण एक साथ एकदम आ जाते हैं—"सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"। कुछ नये साहित्य और कुछ नये साहित्यकारों की भी विचित्र स्थिति है। प्रायः सभी कोठी, कार और बगीचे की ओर दौड़ लगा रहे हैं। आज का यूनीवर्सिटी-प्रोफेसर सब कुछ करता है; लेकिन लिखता-पढ़ता नही।

भौतिकता की ललक ने आज मनुष्य को आपाधापी करने में पागल सा बना दिया है। धन-सचय की प्रबल प्रवृत्ति के कारण आज का मनुष्य घोर तनाव मे जिन्दगी बिता रहा है। भारतवर्ष मे आज-कल जितनी मृत्यु होती है, उनमे सर्वाधिक सख्या हृदयरोग के रोगियो की है। रक्तचाप की बीमारी का मूल कारण तनाव ही है। आज के उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग में मानसिक रोगों के शिकार तो बहुत मनुष्य हो रहे हैं। यदि हम दूषित तथा भ्रष्ट साधनो से धन कमाकर धनपति बननेवाले लोगों से घृणा करने लगें, उन्हे सम्मान न दे तथा उन्हें हीन दृष्टि से देखे, तो वे भ्रष्ट धनपति फिर धन का अर्जन कुत्सित साधनो से न करेंगे। सदाचारी और ईमानदार व्यक्ति जब उन भ्रष्ट धनपतियो की तुलना मे आदर और सम्मान अधिक पाएँगे, तब समाज में भ्रष्टाचार बहुत कम हो जाएगा। वे भ्रष्ट धनपति तब कुछ आत्मविवेचन करेंगे और फिर अपने मन की कीचड की दुर्गन्ध को भी देखेंगे।

स्वर्ग और नरक कही ऊपर पृथ्वी से पृथक् है—यह धारणा अब समाप्त हो चुकी है। दूषित वृत्तियों से परिपूर्ण कष्टमय जीवन ही 'नरक' का जीवन है। सद्वृत्तियो से परिपूर्ण सुखमय जीवन ही 'स्वर्ग' का जीवन है। प्राचीन इतिहास के आधार पर 'स्वर्ग' का एक भौगोलिक अर्थ भी है।

मरीचिपुत्र कश्यप ऋषि हमारे परम पुरखा थे। कश्यप की प्रमुख पाँच पत्नियों मे एक थी अदिति, जिसके पुत्र आदित्य कहलाये। उन्हे वैदिक साहित्य मे देव संज्ञा भी दी गयी है। विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु आदित्यों के ही वंशज थे। विवस्वान् के बड़े भाई का नाम वरुण था। बृहस्पति और भृगु वरुण की सन्तान थे। भारतवर्ष की जिस भूमि पर देव रहते थे, वह देवभूमि कहलाती थी। वैवस्वत मनु तथा उनके पूर्वज मनु कहलाते थे। मनुओ के राज्य का विस्तार मिश्र तक था। एशिया के पश्चिम भाग को देवों का स्वर्ग कहते थे। वही भूमि-भाग वैकुण्ठ भी कहा जाता था। वह भूमि बहुत उपजाऊ थी तथा जीवन को सुख प्रदान करती थी। बाद में प्रलय के द्वारा उस भू-भाग को प्रकृति ने अस्त-व्यस्त कर दिया। मनुओ की गाथाएँ यूरोपीय साहित्य मे भी मिलती हैं।

भूगोल के आधार पर हमारी धरती का स्वर्ग एशिया का पश्चिमीय भू-भाग था। लक्षण के आधार पर 'स्वर्ग' शब्द के लक्ष्यार्थ को पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

आज का धनपति मानव-समाज के स्वर्गिक जीवन को नष्ट कर रहा
२ आज के कुछ नये साहित्यकारों ने अपनी व्यक्तिगत विचारधारा को लेकर

कुंठा, वासना और संत्रास को चित्रित करना साहित्य का प्रमुख विषय बना लिया है। यथार्थ के नाम पर कामुकता और जीवनमूल्यहीनता ही चित्रित की जा रही है। समाज को और देश को हमारा अधुनातन साहित्य कोई समाधान नहीं दे पा रहा, मात्र उच्छृंखलता फैला रहा है। यथार्थवादी साहित्य समाज की दुर्गन्ध को तो चारों ओर फैला सकता है; लेकिन उसके पास दुर्गन्ध को सुगन्ध मे परिवर्तित करने का कोई उपचार या साधन नहीं। वह साधन एक-मात्र औदात्य के पास है।

आज का साहित्यकार प्रायः राजनीति और उद्योग को प्रमुखता देकर उन्हे महत्त्वपूर्ण सिद्ध कर रहा है। समाज की किसी को चिन्ता नहीं। समाज तो राजनीति और उद्योग के दोनो पाटों के बीच पिसा जा रहा है। आज आवश्यकता है समाज के साहित्य की।

उदात्ततत्त्ववाला साहित्य आदर्शवादी एवं समाजवादी साहित्य होता है। धरती के साहित्य को अब अपनी दृष्टि कुछ अधिक ऊपर को उठाकर चलना चाहिए।

आज आचरण की ऊँचाई की झलक दिखानेवाले काव्यों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों आदि की सर्जना न के बराबर है। अधिकाश मे वासनामय नग्न एवं मांसल शृंगार का साहित्य ही लिखा जा रहा है। ऐसे लेखन में उपन्यासो और कहानियों ने तो अति कर दी है। हम स्वय गिरे है और हम गिरे हुओ को आज का निकृष्ट साहित्य भी दिनों-दिन गिराता जा रहा है। सच्चे साहित्यकार का एक ही धर्म है कि वह अपने समय के सत्य को पहचाने और उसकी व्याख्या करे। उसकी व्याख्या समाज को जीवन-मूल्य प्रदान करे। वर्तमान मूल्यहीनता के जीवन को औदात्य की ज्योति चाहिए।

आज हमारे समाज मे मायावी बढते जा रहे हैं। मारीच के वंशजो की संख्या बहुत बढ़ गयी है। आये दिन हम स्वर्णमृग बनकर सत्य की सीता को छलने की साजिश करते रहते है। ऐसी स्थिति मे हमारे समाज को सत्यसंध धनुर्धारी राम की अनिवार्य आवश्यकता है।

आज यज्ञ, धार्मिक अनुष्ठान आदि पहले की अपेक्षा अधिक हो रहे है। जितने धार्मिक अनुष्ठान हो रहे हैं, उससे सौ गुना भ्रष्टाचार बढ रहा है। इससे सिद्ध है कि शिव, दुर्गा, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, कबीर, रविदास, नानक आदि की जन्मभूमि के निवासी तथा उनके आराधक आज हम कितने धर्मात्मा है? धर्म और आचार में आज कितनी दूरी हो गयी है? छल ने सत्य

को कितना नीचे दबोच दिया है ? हमारी सामाजिक स्थिति क्या बन गयी है ? ये सभी प्रश्न हैं हमारे समक्ष; जिन पर हमारे समाज को विचार करना है। राष्ट्रहित के लिए दिल पर हाथ रखकर विचार करना होगा।

समाज में जब राम–लक्ष्मण उत्पन्न होंगे, तभी कल्याण–यज्ञ हो सकेगा। ऐसा यज्ञ ऋष्यशृंग ही रच सकते हैं, जो राम–लक्ष्मण का जन्म करा सकें। तुलसी जैसे कवि की उदात्तवाणी वास्तव में एक यज्ञ है और तुलसीदास हमारे लिए ऋष्यशृंग हैं।

औदात्य की कविता कविता है वाद नहीं। उसका सम्बन्ध विश्व के सार्वजनीन नैतिक जीवनमूल्यों से है। औदात्य का काव्य संवेदना की सृष्टि करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता तथा मानव–जीवन के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह औदात्य के काव्य पर सटीक उतरता है। शुक्ल जी कहते हैं, 'यदि सुन्दर रूप सामने पाकर मनुष्य ने अपनी भीतरी कुरूपता का विसर्जन नहीं किया, यदि दीन–दुखियों का आर्तनाद सुनकर वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया; यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में रह क्या गया ?" औदात्य का काव्य मानव में उन्हीं संस्कारों का निर्माण करता है, जिनकी ओर आचार्य शुक्ल का इशारा है।

आज का आदमी मंगलग्रह का यात्री तो है। उसने चन्द्रमा की मिट्टी भी पाली है; लेकिन मनुष्य की रगों में बहती हुई जिन्दगी को वह नहीं दे सका है। हम अंतरिक्ष तक तो पहुँच गये; लेकिन हमारा हृदय दूसरे हृदयों से दूर हटता गया।

वैदिक साहित्य में मनुष्य को ईश्वर के सर्वाधिक निकट बताया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर मानवतावादी कवि हैं। उनका कहना है कि 'ईश्वर की वीणा में अनेक प्रकार के तार हैं—कुछ तार लोहे के, कुछ ताँबे के, कुछ चाँदी और कुछ सोने के हैं। मनुष्य ही सोने का तार है।"

श्री टैगोर ने सच्चरित्रता तथा आध्यात्मिकता के कारण ही मनुष्य को सोने का तार बताया है। वही मनुष्य तो आज लोहे का घटिया तार बन गया है। घटिया तार अर्थात् जंग लगा हुआ लोहे का तार। आज मानव–समाज की चारित्रिक दशा क्या है—इसके सम्बन्ध में सुकवि जोश मलीहाबादी ने कहा है—

"वक्त से पहले ही आयी है क़यामत देखिए।
मुँह को ढाँपे रो रही है आदमीयत देखिए॥"

आज का मनुष्य भाषण देने मे पटु है। भाषण खूब देता है ; लेकिन भाषणो के खेतों मे गेहूँ तथा धानो के पौधे नही उग सकते। भाषण की फसल मे सरसों नही फूलेगी। बलाद्रवित होकर जिन पौधो को उगाना चाहती है, उनके बीजो में सम्यक् चारित्र्य की मीग होती है। वे बीज औदात्य की खाद से ऊर्जा पाकर ही अंकुरित होते और लहलहाते है। उन्ही पौधो पर आचरण के फूल खिला करते हैं। उनमे से ही मानवता की महती सुगन्ध आया करती है।

आचारहीन पाखंडियो पर तुलसी ने 'मानस' के उत्तरकाण्ड में कलिप्रभाव के माध्यम से करारी चोटें की हैं। गालबजानेवाले पंडितों तथा मूडमुडानेवाले ढोंगी सन्यासियों को खुलकर सुनायी हैं। यह निषेधात्मक रूप से औदात्य का ही समर्थन है।

आज का आदमी अब नाग से भी अधिक जहरीला होता जा रहा है। वह अपना जहर घर मे, दुकान में, दफ्तर मे, समाज मे, प्रजाधानी मे और राजधानी मे उगल रहा है। हमारा देश आज अपराधियो के समाज-पुंज से भर गया है—क्या दार्शनिक, क्या अध्यापक, क्या वैज्ञानिक, क्या वकील, क्या कलाकार, क्या लेखक सभी अपराधी हैं। ऐसी दशा मे हम कैसे बचें और बचने के लिए क्या करें, क्या न करें—इसके लिए हमें यदि दिशानिर्देश कर सकता है और हमारे सस्कारो को बदल सकता है, तो औदात्य का साहित्य ही कुछ बदल सकता है।

बालक मनुष्य का पिता है। बालक को आचारवान् हमारी माताएँ ही बना सकती हैं। अब माताएँ ही देश को पराभव के समुद्र मे डूबने से बचा सकती है। 'मानस' की सीता मे भक्ति, शक्ति और माता का रूप समाविष्ट है। सीता जी भक्तो की दृष्टि मे भक्ति, कर्मयोगियो की दृष्टि मे शक्ति और तुलसी की दृष्टि मे माता है। वेदान्ती आचार्य शकर ने तो सीता को शान्ति बताया है—"शान्तिसीता समाहिता" (शकर)।

जब हमारे देश की नारियाँ माता, शान्ति, भक्ति और शक्ति का प्राणवंत रूप लेकर आएँगी, तभी हमारे समाज का तथा सम्पूर्ण राष्ट्र का सच्चा कल्याण होगा। पश्चिम की दुर्गन्धपूर्ण वायु ने हमारे देश की नारियो के आचार-विचार कैसे बना दिये हैं—इसका पता पाँचसितारा होटलों तथा डांसक्लबों में आसानी से लग सकता है। पश्चिम की इस आँधी को रोकने के लिए आज

सच्चे साहित्यकारों को आगे आना चाहिए। औदात्य से परिपूर्ण साहित्य की सर्जना करनेवाले साहित्यकार ही देश का कल्याण कर सकते हैं।

रामायणकालीन राजनीति बुराई से लड़ती थी और बुराई की निन्दा करती थी। वह धर्म के साथ-साथ चलती थी। आज की राजनीति केवल निन्दा करती रहती है और अधर्म के साथ है।

बलिदानी राष्ट्रवीरों के बलिदानों के कारण हमें सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्रता तो मिल गयी, किन्तु हम उस योग को क्षेम का रूप न दे सके। अप्राप्त की प्राप्ति का नाम 'योग' और प्राप्त की रक्षा का नाम 'क्षेम' है—

"अनुपात् तस्य उपादानं योगः।
उपात् तस्य रक्षणं क्षेमः॥"

हम क्षेम के सुपात्र सिद्ध इसलिए भी नहीं हुए कि हमें स्वतन्त्रता जिस समय मिली, उस समय हम स्वतंत्रता के महत्त्व को पूर्णत समझने की क्षमता नहीं रखते थे। क्षेम का आधार क्षमता है। अक्षमता और क्षेम में विरोध है। इस अक्षम देश के कुछ बलिदानी राष्ट्रवीरों के बलिदानों ने स्वतन्त्रता दिला दी थी। वे शहीद ही स्वतंत्रता का स्वाद और महत्त्व जानते थे, सम्पूर्ण देश-वासी नहीं।

क्षेम के उत्तरदायित्व का भार आदर्शवादी ही अपने कन्धों पर उठा सकता है; यथार्थवादी नहीं। यथार्थवादी तो एकदम परिस्थितियों के समक्ष अपने घुटने टेक देता है। जीवन के लिए अथवा समाज के लिए परिस्थितियाँ महत्त्व-पूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण यह है कि हम उपस्थित परिस्थितियों को किस रूप में देखते और स्वीकारते है? कैसी ही और कितनी ही विषम परिस्थितियाँ हो, यदि उन्हें हम सामान्य समझते हैं और यह भी मानते हैं कि संसार में ऐसी परिस्थितियाँ तो आती ही रहती हैं। ऐसा ही नहीं, इनसे भी अधिक विषम और विषमतर परिस्थितियाँ मनुष्यों के समक्ष पहाड़ बनकर आती हैं। दृढ़-धीर-वीर पुरुषों ने अपने धैर्य, साहस और पौरुष से उन पर विजय पायी है। उन्हीं पुरुषों में से हम भी एक है। इस दृष्टि से यदि हम समागत परिस्थितियों को देखेंगे, तो उन परिस्थितियों के हम दास न बनेंगे; अपितु उन परिस्थितयों को ही अपनी दासियाँ बना लेंगे। इतिहास साक्षी है कि आदर्शवादियों ने ही समाज तथा राष्ट्र की रक्षा की है; उन्हें पतन के गर्त में गिरने से बचाया है।

विदेशी काव्यशास्त्रियों ने काव्यमूल्यांकन के आठ सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। उनमें टालसटाय का एक आदर्श सिद्धान्त भी है। लॉन्जाइनस के औदात्य

सिद्धान्त का बहुत-कुछ समर्थन 'आदर्शसिद्धान्त' करता है। औदात्यसिद्धान्त और आदर्शसिद्धान्त के मूल में यह संकेत मिलता है कि काव्य जीवन के लिए तथा जीवनमूल्यों को उठाने के लिए है।

आज हमारा समाज और हमारा देश धर्महीन राजनीति से ८५ प्रतिशत प्रभावित है और आज की राजनीति नैतिकता तथा मर्यादाओं से हीन है। वर्तमान राजनीति वारागना है। पहले राजनीति देश-सेवा थी ; आज राजनीति धन्धा है। यदि आज का साहित्यकार भी आज की राजनीति की तरह ही साहित्य-सर्जना करता रहेगा, तो देश शीघ्र रसातल को चला जाएगा। ऐसी स्थिति मे तुलसी जैसा मानव-धर्म व्याख्याता ही कल्याण कर सकेगा।

आज का सत्ताधारी राजनीतिज्ञ पूँजीपति बनकर अपने को बड़ा आदमी सिद्ध करना चाहता है। बड़ा बनने के अहं मे थोड़ा-सा तो वह लुटता है; किन्तु उससे पचास गुना लूटता है।

रूस के राष्ट्रपति ख्रुश्चेव की इंगलैण्ड-यात्रा से सम्बद्ध एक प्रसंग है—

ख्रुश्चेव को इंगलैण्डवालो ने स्वागत-सम्मान मे सूट का एक कपड़ा भेंट किया, जिसमे से कोट, पैंट और वास्कट बन सकती थीं। रूस मे आकर ख्रुश्चेव ने जब वह कपड़ा रूसी दर्जी को दिया तब उसने कहा कि इसमे से केवल एक कोट और एक पैंट ही मुश्किल मे बन सकती है। ख्रुश्चेव ने जब उसी कपड़े को इंगलैंड भेजा, तब लन्दन के दर्जी ने कहा कि इसमे से एक कोट, एक पैंट और एक वास्कट के बाद कुछ कपड़ा बच सकता है। ख्रुश्चेव के आदमी ने जब रूसी दर्जी की बात बतायी, तब लदन के दर्जी ने कहा कि "रूस मे ख्रुश्चेव राष्ट्रपति हैं, यहाँ मात्र एक मामूली आदमी।" पूँजीपतियों अर्थात् धनाढ्यों की भी यही बात है, सर्वत्र, वे पहले लुटते है, फिर लूटते हैं।

शुद्ध यथार्थवादी साहित्य से समाज और देश का उत्थान नहीं होगा। प्रेमचन्द जी ने कहा है कि "यथार्थ मे तो हम अपनी कमजोरियाँ देखते हैं। उन कमजोरियों के पीछे हम कुछ तो अच्छा देखें। अच्छा देखने मे ही साहित्य मे सौंदर्य आता है, कला आती है।"

'अच्छा देखने' से श्री प्रेमचन्द जी का तात्पर्य आदर्शोन्मुखी साहित्य की सर्जना है। औदात्य का साहित्य आदर्शोन्मुखी साहित्य होता है।

हिन्दी मे आज जैसा शुद्ध यथार्थवादी साहित्य लिखा जा रहा है वह आगे के १०० वर्ष तक जीवित रह सकेगा ; इसमें संदेह है ; क्योंकि उसमें साधना, संयम, गाम्भीर्य और औदात्य नहीं है।

सत्य की ज्योति जलते-जलते बुझ जाए, यह सम्भव तो नहीं है, लेकिन यह भी झूठ नहीं कि असत्य आज आम चौराहे पर धुआँभरी धूनी रमाये बैठा है।

आज का नया साहित्यकार जो कह रहा है, वह सत्य नहीं है, सत्य वह है, जिसके विरोध मे वह बोल रहा है। उसकी अभिव्यक्त वाणी अन्तःकरण को दबोच रही है। उस अन्तःकरण को पत्थर से दबोच रही है, जिसकी भूमि पर औदात्य का अंकुर उग रहा है।

तुलसी की सीता के लिए राम पूज्य हैं, पार्वती के लिए शंकर पूज्य हैं। तुलसी की सीता कभी मुख ऊपर उठाकर अपने ससुर दशरथ जी से नहीं बोली। बौद्ध धर्म और जैन धर्म मे भी नारी के लिए नर पूज्य है, आदरणीय है, सम्माननीय है।

बौद्ध-संघ मे प्रारंभ मे भिक्षु ही दीक्षित किये जाते थे। कृशा गौतमी के परम आग्रहपूर्ण निवेदन पर भिक्षुणियों को भी फिर संघ मे सम्मिलित कर लिया गया था। एक दिन शिष्य आनन्द ने बुद्ध जी से पूछा कि भिक्षु-भिक्षुणी मार्ग मे मिलें, तो एक दूसरे के प्रति क्या और कैसा व्यवहार करें? बुद्ध जी ने व्यवस्था दी कि "भिक्षु चाहे उम्र मे छोटा हो, भिक्षुणी भिक्षु को प्रणाम करे और उसे आदरणीय माने।" महावीर स्वामी ने भी व्यवस्था दी थी कि "साधु चाहे उम्र मे छोटा हो, साध्वी उसे ऊपर बिठाए और स्वयं नीचे बैठे।" ऊपर से लगता है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म में नारी की अवमानना की गयी है; किन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है। महावीर स्वामी और बुद्ध जी ने समाज की नस को पहचान लिया था। पहचान लिया था और ठीक-ठीक पहचान लिया था।

बुद्ध जी बाहर को पूर्णतया समझते थे; क्योंकि वे अन्दर से हिमालय थे। जो अन्दर से हिमालय होगा, वह स्त्री को देखकर अप्रकृतिस्थ न होगा, विकृत न होगा, हिलेगा नहीं, काँपेगा नहीं; अन्य काँप जाएँगे; होश-हवास खो देंगे। बुद्ध को यदि समाज से मैली चादर मिलेगी, तो बुद्ध उसे खरी करके रखेंगे। कबीर से बुद्ध कुछ आगे है। कबीर तो चादर को ज्यों-की-त्यों रखते है। बुद्ध मैलीचादर को बेदाग बनाते हैं।

बुद्ध दृष्टि मात्र से ही इतने अधिक शुभ की वर्षा करते थे कि कबीर वाणी से उसका चतुर्थांश भी न कर सके। हत्यारा अगुलिमाल डाकू बुद्ध का समकालीन था। वह इतना नृशंस और क्रूर था कि मनुष्य को

मारकर उसकी एक उँगली काटकर अपनी माला मे डाल लेता था। बुद्ध ने अँगुलि माल से मिलना चाहा। तत्प्रदेशीय राजा ने बुद्ध जी से मना किया। बुद्ध जी न माने, गये अँगुलिमाल से मिलने। क्रूर हिंसक अगुलिमाल ज्यो-ज्यों बुद्ध के पास आता जाता था, उसकी क्रूरवृत्ति क्षीण होती जाती थी। अन्त मे बुद्ध जी के पास आते ही अँगुलिमाल उनके चरणों में लेट गया और अपराधों के लिए क्षमासहित आशीर्वाद माँगने लगा।

बुद्ध जी ने जो कल्याण किया, वही कल्याण औदात्य का साहित्य करता है। औदात्य के साहित्य मे दाशरथि राम, गीतेश्वर कृष्ण, महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, शिवि, दधीचि आदि अपनी दिव्य ज्योति विकीर्ण करते है। उस ज्योति से अन्धकार का विनाश होता है। काम और अर्थ के विकार को औदात्य का साहित्य खूब जानता है।

जीवन के औदात्य के विस्तार, गहराई और ऊँचाई को वही ठीक तरह से समझ सकता है, जिसने जीवन को समग्र रूप मे जिया है। जीवन के एक अग को अथवा खण्ड को जीनेवाला औदात्य के सच्चे स्वरूप को नही जान सकता। महावीर स्वामी, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि ने जीवन को समग्रता के साथ नही जिया था। ससार मे केवल एक ही व्यक्तित्व इस धरित्री पर हुआ है; जिसने समग्र जीवन को जिया है और आनन्द लिया है। वह है कृष्ण। महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध तो इस धरित्री पर केवल पाँव रखते थे, जिये वे परलोक के लिए। इस ससार के मनुष्यो ने उनकी आँखो मे आँसू ही देखे। एक मात्र कृष्ण ही है, जो इसी धरित्री पर पूर्णत, रहे। इसी लोक के लिए जिए और सदा हँसतेहुए जिये। ससार के समक्ष उन्होने सदा अपनी हँसी ही बिखेरी। जीवन का आनन्द लिया और दिया। योग को भोग के रूप में और भोग को योग के रूप मे किस प्रकार ग्रहण किया जाता है; इसे श्रीकृष्ण से सीखा जा सकता है। मानव के औदात्य के सर्वोच्च शिखर पर योगिराज रासरसेश्वर श्रीकृष्ण विराजमान है।

कृष्ण इसलिए भी सर्वोच्च हैं कि वे प्रेमरूप हैं। पूर्ण प्रेम है, विश्व-प्रेम हैं। जो विश्व-प्रेम है, उसमे ईर्ष्या नही हो सकती। ईर्ष्या दूसरे को गिराना चाहती है, मिटाना चाहती है। औदात्य श्रीकृष्ण का ही एक रूप है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक विश्वविद्यालय में प्रोफेसरों के समक्ष भाषण देतेहुए श्यामपट पर एक रेखा खींच दी थी और कहा था कि इस रेखा को बिना मिटाये छोटी कर दीजिए। उपस्थित प्रोफ़ेसर जब वैसा न कर सके

तब स्वामी जी ने उसके पास एक बड़ी रेखा खींचकर कहा कि देखिए यह रेखा अब छोटी हो गयी, बिना मिटाये छोटी हो गयी।

हम यदि प्रेम को बढ़ाते जाएँगे, तो हमारी दूसरे को मिटाने की भावना नष्ट होती जाएगी। हम प्रेम के कारण विशालहृदय बनते जाएँगे और दूसरे को बिना मिटाये ही बड़े बन जाएँगे। प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व को बड़ी रेखा के रूप मे बना देता है; उठा देता है; ऊँचा बना देता है।

यदि स्त्री पुरुष को पूज्य और आदरणीय मानती है और चरणस्पर्श करती है, तो पुरुष की वासना उसकी ओर बहेगी नहीं। वेश्या जिस पुरुष को पूज्य नही मानती, उसे आदर नहीं देती, इसीलिए उस पुरुष की वासना-धारा वेश्या के प्रति बहने लगती है।

ब्रह्मचारी, ऋषि मुनि, साधु, सन्त, गुरु, ससुर, जेठ आदि को जब तक नारी ने पूजा और सच्चा आदर दिया, तब तक हमारे समाज मे पुरुष की काम-वासना की नदी नारी की ओर प्रवाहित नहीं हुई। हमारे समाज मे जब से नारियाँ ससुर, जेठ आदि से मुँह उठाकर, खुलकर बातें करने लगी और पूज्य भाव त्यागने लगी, तभी से घरों मे व्यभिचार घर करने लगा।

आज समाज की भूमि मे सदाचार के कल्पवृक्ष का उगाना परमावश्यक है। ऐसा कल्पवृक्ष जिसकी जड़ धर्म, तथा चरित्र, शाखाएँ कर्तव्यपालन, पत्तियाँ सद्गुण, फूल सदिच्छाओ की पूर्ति और अमृतफल जीवनानन्द हो; तभी गीता की सर्वभूतहितरति की संदेशात्मक वाणी साकारता ग्रहण कर सकती है। तुलसी का परमधर्म (परहित) भी तभी साकार होगा।

हमारी वर्तमान विषम स्थिति मे तुलसीकृत काव्यो के चरित्रो की कर्मठता, सच्चरित्रता एवं उच्चाशयता ही समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए औदात्य के भावों को उद्बुद्ध कर सकती है, क्योंकि तुलसी उच्च नैतिक मूलों के मूर्धन्य महा व्याख्याता हैं।

सदाचरण, सत्य, प्रेम, अहिंसा, सर्वभूतहित आदि के प्रति आत्मिक श्रद्धा रखनेवाला कवि ही औदात्यपूर्ण काव्य की सृष्टि कर सकता है। राजा जनक के यज्ञ मे गार्गी के प्रश्नो का उत्तर देते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा था कि पृथ्वी जल से, जल वायु से और वायु आकाश से आवृत है। जब गार्गी यह पूछनेवाली थी कि आकाश किससे आवृत है, तब प्रश्न से पहले ही याज्ञवल्क्य बोल उठे, 'गार्गी ! आगे प्रश्न मत करना; क्योंकि उसका उत्तर तेरी समझ मे न आएगा।

आकाश को आवृत करनेवाले को आत्मिक श्रद्धा से ही जाना जा सकता है। वह बुद्धि का विषय नही है—"न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मन:"। यह प्रसंग बृहदारण्यक उपनिषद् मे आया है। अत: श्रद्धासमन्वित हृदयवाला कवि ही औदात्यमय काव्य की सर्जना कर सकता है। उस कवि की आत्मा उच्च और विशाल होती है। कोरी बुद्धि से औदात्य का काव्य नही रचा जा सकता।

कवि शिरोमणि महात्मा तुलसीदास के द्वादश ग्रंथो में 'रामचरितमानस' परम लोकप्रिय ग्रंथ है। यह ग्रंथ भारत की जनता का कठहार है। उत्तर-भारत में तो आज 'रामचरितमानस' वेदों से अधिक मान्य और पूज्य है। इसका कारण इसकी औदात्यमयी भावभूमि, भाषा और पात्र हैं। श्रीराम, सीता, भरत, लक्ष्मण, हनुमान्, शंकर, पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा, मंदोदरी आदि के चरित्र-चित्रण के माध्यम से ही इस कृति में औदात्य के स्वरूप को उद्घाटित किया गया है। 'मानस' के पात्रो का चरित्र-चित्रण सुधी पाठकों को कितना रुचिकर और उपादेय सिद्ध होगा—यह तो इस पुस्तक के पाठक ही बताएँगे, मै स्वयं क्या कहूँ—

"निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥"

जिन चरित्रों के विषय मे तुलसीकृत 'मानस' मे कोई प्रमुख तथ्य नही मिला, उनके विषय मे अन्य ग्रथो के आधार पर भी अभीष्ट को व्यक्त किया गया है। शिव, पार्वती, हनूमान्, कैकेयी, जटायु, मंदोदरी आदि चरित्र उसके उदाहरण माने जा सकते है। जयन्त आदि निकृष्ट चरितो का उल्लेख तथा चित्रण इसलिए किया गया है कि इनके चित्रण से श्रीरामभद्र आदि के सच्-चरितों का स्वरूप विशिष्ट रूप से उद्घाटित होता है। दिन के स्वरूप को अवगत कराने के लिए रात्रि का स्वरूप बताना, शुक्लपक्ष के लिए कृष्णपक्ष को समझाना, मधुर के लिए कटु की अनुभूति कराना और प्रकाश के लिए अन्धकार का ज्ञान कराना परम आवश्यक है। पुण्य-पावन गंगोदक के महत्त्व के लिए पाप-पक का गर्हित रूप प्रस्तुत करना समीचीन है। विश्व में प्रकाश करनेवाले श्रीकृष्ण भी तो अँधेरे पाख मे ही पैदा हुए थे। 'प्रसाद' जी ने भी 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' नाटक के द्वितीय अंक में देवसेना के शब्दों में कहा है—"पवित्रता की माप है, मलिनता और पुण्य की कसौटी है, पाप।"

भारत से बाहर के विचारक मार्क्स, फिरहो, सार्त्र, कामू, फ्राइड आदि जीवन को व्यर्थ बताते हैं, क्योकि उनके पास केवल बुद्धि और तर्क है; हृदय और हृदय का प्रेम नही। वे विश्लेषण करना जानते हैं, संश्लेषण नही।

जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र बुद्धि तथा तर्क के बल पर चलता है और सत्ता के अहकार मे भर जाता है, उसकी आयु बहुत कम हो जाती है। हृदय को दबोचकर चलनेवाली बुद्धि की आयु बहुत कम होती है; क्योकि वह क्रूर बन जाती है। हिटलर को सत्ता का मद था; क्योकि हृदयहीन था। उसका कोरा बुद्धिबल महाक्रूर और आततायी हो गया था। परिणाम यह हुआ कि उसने आत्मघात किया।

सन् १९३७ ई० मे तत्कालीन ब्रिटेन के विदेशमंत्री लार्ड हैलीफोक्स को हिटलर ने सलाह दी थी कि "वह पहले गान्धी को गोली से मरवा दे; फिर भी भारतीय न माने, तो फिर भारत के उच्च कांग्रेसी नेताओ मे से १२ को मरवा दे। फिर भी भारतीय न मानें, तो अन्य २०० को गोली से मरवा दे। यह क्रिया तब तक जारी रहे, जबतक भारतीय यह महसूस न कर ले कि अंग्रेज झुकनेवाले नही है"। २९ मई, १९४२ ई० को जब सुभाषचन्द्र बोस ने जर्मनी मे हिटलर से सैन्य, सहायता मॉगी, तो उसने साफ मना कर दिया था।

हिटलर की क्रूरता की आयु कितनी निकली? विश्व ने देख लिया कि हिटलरशाही एकदम चमकी और सदा को बुझ गयी। हृदय मे पदाघात करके चलनेवाली बुद्धि क्षणभगुर ही सिद्ध होती है। ऐसी क्रूर बुद्धि मे विकर्षण होता है, आकर्षण नही। औदात्य का पक्षधर साहित्यकार हृदय के महत्त्व को समझता है। वह कोरी बुद्धि का समर्थक नहीं होता।

औदात्य के साहित्य को नयी पीढ़ी कुछ पढ़ती रही, तो कालान्तर मे उसकी जीवनपद्धति मे अवश्य परिवर्तन आएगा। नयी पीढी के पाठकों में तथा लेखको मे पठन-पाठन का अभाव है। यह पीढी शोर्टकट की सस्कृति मे बहुत विश्वास करती है, इसलिए उच्च साहित्य की सर्जना नही के बराबर हो रही है।

औदात्य के उद्घोषक महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों में दो प्रेमी मिलते है; भक्त और भगवान् मिलते हैं; हृदय से हृदय मिलता है, आस्था से आस्था मिलती है। माता–पुत्र मिलते हैं, सखा–सखा मिलते है, स्वामी-सेवक मिलते हैं, अग्रज-अनुज मिलते हैं और राजा–प्रजा मिलते है। यह सारा मिलन पवित्र प्रेम के आंगन मे होता है; इसलिए वहाँ जीवन सार्थक है, सरस है, शिव है और सुन्दर है। तुलसी ऐसे शुभ्र जीवन के कुशल चित्रकार है, मूर्धन्य चित्रकार। ऐसे मूर्धन्य चित्रकारकवि मानव–जीवन के अंतस मे

व्याप्त सत्य, शिव और सौन्दर्य को सरस साहित्यिक एवं प्रभाविनी वाणी प्रदान किया करते हैं।

तुलसी के राम का जीवन अगी है और भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान्, सुग्रीव, विभीषण आदि अंग हैं। अंगी के आलोक मे ही अगो के स्वरूप को ठीक तरह देखा जा सकता है। अग अगी से अलग होकर व्यर्थ हो जाता है।

औदात्य के कवि तुलसीदास यह जानते हैं कि काव्य मे व्यापक स्तर के शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। शब्द उत्पन्न तो किसी मुख्य स्थान पर ही होता है ; किन्तु वह अपने सुष्ठु अर्थ के कारण पहले बोल–चाल मे लोकप्रिय बनता है। जैसे-जैसे वह प्रयोग मे फैलता जाएगा, वैसे-वैसे अपने देशज रूप को छोडकर प्रान्तीय बनता जाएगा और फिर प्रान्तीय से भी कुछ अधिक विस्तार लेगा। अर्थ और भाव मे जब उसके समानान्तर उतना वज़नदार कोई अन्य शब्द हमारी भाषा में नही होगा, तब वह फिर राष्ट्रीय स्तर ग्रहण कर लेगा। राष्ट्रीय स्तर पर वही फिर एक सच्चा साहित्यिक शब्द बन जाएगा। मराठी के सन्त तुकाराम ने कहा है कि "शब्द धन है, शब्द रत्न है, शब्द शास्त्र है और शब्द हमारे जीवन का अग है। परमेश्वर का गौरव भी केवल शब्द से ही संभव है।"

साहित्यिक शब्द से तात्पर्य उस शब्द से है, जो भावानुकूल अर्थ को व्यापक रूप मे व्यक्त करे और साहित्यकार की विवक्षा का समुपयुक्त साधन बन सके। शब्द अर्थ या भाव की उपादान सामग्री है। साहित्यस्रष्टा साहित्यकार की सफलता इसी मे है कि उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा के शब्द उसकी विवक्षा को पाठक तक अक्षुण्ण रूप मे सप्रेषित कर सकें। विवक्षा का अर्थ है साहित्यकार के अभिप्राय को व्यक्त करने की इच्छा। जिस साहित्यकार की यह इच्छा जितनी सुन्दरता और सफलता के साथ शब्दों के माध्यम से पाठक या श्रोता के मन तक पहुँचती है, उतना ही वह सफल और उच्च साहित्यकार माना जाता है। तुलसी इस दृष्टि से सफल साहित्यकार हैं; महाकवि हैं। विवक्षा के धनी सप्रेषक है।

समर्थ कवि के समर्थ शब्द उसके मनोभावो को पाठक तक अक्षुण्ण रूप मे पहुँचाते हैं। कवि के भाव उदात्त होगे, तो पाठक के मन को भी उदात्त बनाएँगे। फ्राइड आदि के मनोविज्ञान ने हमारे अत्याधुनिक हिन्दी-लेखको के मानस को विकृत बना दिया है। फ्राइड की मूल मान्यता है कि मनुष्य मूल-रूप मे एक पशु है। वह कितना ही सभ्य हो जाए, उसकी पशुता को निर्मूल नहीं किया जा सकता इसलिए फ्राइड की मान्यता है कि माता जन्मदात्री

होते हुए भी एक स्त्री है। वह स्त्री मे प्रत्येक अवस्था मे यौनकामकुण्ठा मानता है। इसके विपरीत भारतीय मनोविज्ञान मे माता की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। उसकी शिक्षा बालक का निर्माण करती है। माँ की शुभ शिक्षा से शिशु के शुभ सस्कार बनते है। भारतीय मनोविज्ञान मे मातृदेव बालक महामानव बन सकता है। अणु विराट् बन सकता है। जीव ब्रह्म भी बन सकता है। तुलसी भारतीय मनोविज्ञान के व्याख्याता हैं।

कुछ लोग कहते है कि 'औदात्य का चितेरा साहित्यकार एक आदर्श-कल्पनाजीवी होता है, व्यर्थ ही एक अलौकिक परम शक्ति के प्रति आस्थावान् होता है। वह बुद्धि और तर्क से नितान्त अछूता होता है।" उन लोगो का कथन निस्सार है। विश्व के मूर्धन्य वैज्ञानिक **अल्वर्ट आइंस्टीन** ने लिखा है, अपने एक पत्र मे, "वैज्ञानिक को यह मानना पडता है कि विश्व के नियमो मे कही कोई एक ऐसी अदृश्य शक्ति है, जो मनुष्य से श्रेष्ठ है। उसके समक्ष हमे मनुष्यो की शक्तियाँ बहुत साधारण प्रतीत होती है।" जब हमारा सच्चा दृढ विचार यह बनजाता है कि एक परम दिव्य शक्ति हमारे साथ है, तब सब कार्यो के प्रति हमारे भाव कुछ और ही हो जाते है।। तब हमारे अन्दर की दिव्यता प्रवल हो उठती है।

यह एक संयोग ही था कि १७ वी शती के आदि-अन्त में भारत और यूरोप मे ऐसे दो मूर्धन्य कवि हुए, जिन्होने उदात्तता को अपने काव्यो मे पूरी निष्ठा से अनुस्यूत किया—भारत मे वह है महाकवि **तुलसी** और यूरोप मे वह हैं महाकवि **मिल्टन**। तुलसी ने '**रामचरितमानस**' जैसा उदात्त काव्य लिखा और मिल्टन ने '**पैरैडाइज लॉस्ट**' तथा '**पैरैडाइज रिगेन्ड**' की सर्जना की। सभवत तब दोनो ही महान् कवि अवस्था मे लगभग ५० वर्ष के थे।

गीतावली और **कृष्णगीतावली** के पदो की रसात्मक कोमल पदावली के माध्यम से तुलसी ने भाषा को औदात्य प्रदान किया है। कोमल भाषा के माध्यम से कोमल भावो की सफल अभिव्यक्ति हुई है। उन पदात्मक गीतो की विकास-परपरा मे द्विवेदी युगीन गीतों, छायावादी गीतो तथा वर्तमान कालीन नवगीतों का जन्म हुआ। छायावादी गीतो मे जो भावुकता और वैयक्तिकता-मयी आदर्शोन्मुखी कल्पनाशीलता पायी जाती है, वह तुलसी के भावप्रवण पदो की देन मानी जा सकती है।

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मुझमे क्या-क्या घर किये हुए है ? उसमे कितना ग्राह्य है और कितना त्याज्य है ? इस जीवन के उपरान्त मैं कहाँ जाऊँगा ?—ये प्रश्न तीन हजार वर्षो से भी अधिक पहले से पूछे जाते रहे हैं।

इन प्रश्नो को मनुष्य दूसरो से भी पूछता रहा है और कभी-कभी अपने से भी। हमारी सम्पूर्ण जागतिक क्रियाएँ और अनुभव-अनुभूति की क्षमताएँ भावनाओ मे बदलती रहती है। वे भावनात्मक प्रभाव कभी-कभी हमे इतना बदल देते हैं कि हम अपने को भी नही समझ पाते। हम मे कितना उदात्त है? कितना निकृष्ट है? इसका पता हमे सामन्यतया नही लगता।

अपने जीवन की षष्टिपूर्ति के उपरान्त मेरे अध्यापक और साहित्यसेवी ने अपने अन्तस् की गन्ध को टटोलना आरम्भ किया। दुर्गन्ध के साथ-साथ वहाँ नगण्य मात्रा मे कुछ सुगन्ध भी मिली। वह औदात्य की सुगन्ध थी। जो इस अम्बाप्रसाद को बाल्यावस्था मे अपनी दादी से मिली थी। वह सुगन्ध मेरे अन्तस् मे छिपी पडी थी। उसे ही अब ६७ वी अवस्था मे इस अम्बाप्रसाद 'सुमन' ने कुछ उद्घाटित करने का प्रयास किया है। उस बालक अम्बाप्रसाद मे से तुलसीसेवी अम्बाप्रसाद 'सुमन' जिस रूप मे विकसित हुआ, उसे भी प्रस्तुत कृति कुछ बताने का उपक्रम करेगी। यदि प्रस्तुत कृति मे पाठको को कुछ ऐसा भी मिले, जो उनकी समझ मे न आ सके, तो वे निराश न हों।

एक प्रसिद्ध विचारक हुआ है, श्री ब्लाउंट। उसने लिखा है, "जो मनुष्य यह समझता है कि हर बात उसकी समझ मे तुरन्त आ जाती है, वह कुछ भी नही सीख सकता।"

मैं कहाँ तक सफल-विफल रहा हूँ—यह तो मेरे पाठक ही निर्णय करेगे। विशेष निवेदन यह है कि मेरे पाठक मेरी सफलता-विफलता को पढ़ने की कृपा अवश्य करे।

उद्विग्नमना वेदव्यास विपाशा (व्यास नदी) के किनारे बैठे हुए थे। नारद जी ने कारण पूछा। व्यास जी ने कहा कि "महाभारत लिखकर शान्ति नही मिली।" तब नारद जी ने उनसे श्रीमद्भागवत रचने के लिए कहा। भागवत रचने के बाद वेदव्यास जी को शान्ति मिली। कारण स्पष्ट है – महाभारत इतिहास है, जो बुद्धिप्रधान है, भागवत काव्य है, जो हृदयप्रधान है।

इस प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की मन स्थिति भी लगभग श्री वेदव्यास की–सी रही है। लगभग ३०० निबन्ध पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए और १८ पुस्तकें भी प्रकाशित हुई। तीस वर्ष तक विश्वविद्यालयो मे भाषाशास्त्र और काव्यशास्त्र भी पढ़ाया। इतने पर भी मन अतृप्त-सा ही रहा। समाज को, साहित्य को जो अन्तस् से देना चाहता था, वह न दे सका। १८ पुस्तकें लिखने के बाद जब १६ वी पुस्तक 'गीता एक नव्य चिन्तन' लिखनी प्रारम्भ की तब

कुछ आत्मसुख मिला। उसके बाद कुछ और अधिक मनस्तोष इस प्रस्तुत पुस्तक 'औदात्य के चितरे महाकवि तुलसी' को लिखने पर मिल रहा है। इसकी सर्जना से भले ही कुछ पाठकों को सुख न मिले; लेकिन मेरे मन को इसकी रचना से शान्ति और सुख की प्राप्ति अवश्य हुई है। मेरा विश्वास है कि महाकवि तुलसी के श्रीराम के जीवन से लिपटीहुई यह कृति यदि सर्व-जनसुखाय सिद्ध न हुई, तो कम से कम बहुजनसुखाय तो सिद्ध होगी ही। विशेषरूप से उन जनो के लिए, श्रीराम जिनके आराधनीय, वन्दनीय और परम पूजनीय हैं। तुलसीकृत 'मानस' मे ऐसे उदात्त सार्वजनीन तत्त्व है, जिनसे वह कृति उत्तर भारत की जनता का कण्ठहार बनी हुई है।

युगप्रवर्तक साहित्यकार तब उत्पन्न होता है, जब साहित्य मे भावना, ज्ञान और कर्म किसी व्यक्ति या घटना के माध्यम से एक बिन्दु पर मिलते हैं। बुद्धि की प्रबलता केवल दार्शनिक को जन्म दे सकती है। भावना की अधिकता केवल कलाकार पैदा कर सकती है। कर्म की बहुलता से केवल सुधारक उत्पन्न हो सकता है। सम्पूर्ण राष्ट्र की लोकमंगलमयी जन-भावनाओं को सर्वांगीण रूप से सम्पर्श करनेवाले युगप्रवर्तक साहित्यकार का जन्म तो तभी होगा, जब भावना, ज्ञान और कर्म समानुपातिक सामंजस्य के साथ एक सम पर आकर मिलेंगे। तुलसी जैसे महान् कवि का जन्म उसी सम-बिन्दु पर हुआ था।

इन पंक्तियो के लेखक को साहित्यजगत् से कुछ कहना है, इसलिए यह लेखक लिखता है; परिणाम की चिन्ता इसे नही है। परिणाम की चिन्ता और प्रतीक्षा लेखन को रोक सकती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री नोम चोम्स्की ने कहा है कि "रचनाकार को परिणाम की चिन्ता नही करनी चाहिए। यदि रचनाकार परिणामों को लेकर बैठ जाएगा, तो सर्जना के सब मार्ग अवरुद्ध हो जाएँगे। तिकड़मों के सहारे लेखन-धर्मिता आगे नहीं बढ़ती। तिकड़में तिकड़मे ही हैं। तिकड़मों की बैसाखियो पर लेखन-यात्रा नहो हो सकती। अन्त मे तिकड़मो की बैसाखियाँ ही रह जाती हैं, लेखन तो समाप्त ही हो जाता है।"

आज बहुसंख्यक शिक्षित भारतीयों का जीवन आकाश मे उड़तीहुई कटी पतंग की भाँति निराधार है, क्योंकि उनका कोई सांस्कृतिक आधार नही है। सांस्कृतिक आधार इसलिए नहो है कि उनके जीवन मे से उपनिषदो, रामायणों, महाभारत, गीता आदि का अथवा इनपर आधृत उदात्त सत् साहित्य का पठन-पाठन उठ गया है।

फ्राइड, मार्क्स, डार्विन आदि के पास जीवन के सर्वांगीण स्वरूप को समुज्ज्वल बनाने के सूत्र नही हैं। वे मात्र शरीर को बता सके है, आत्मा को नही। उन्होने रूप को ही देखा है, सत्व और सत्य के दर्शन नही किये।

हमने विज्ञान में तो प्रगति की है; किन्तु मानवता को खो दिया है। इन्सानियत हममें से समाप्त होती जारही है। पश्चिम ने हमे इतना भौतिकवादी बना दिया है कि उदारता, करुणा, बन्धुत्व, औदात्य आदि भावो का अस्तित्व हमारे जीवन मे से रिसता जा रहा है। हिन्दी के समकालीन साहित्य मे भी असहिष्णुता बढ़ती जा रही है।

सन् १९४७ ई० के बाद हमने नागरिक के अधिकार ही अधिक समझे; कर्तव्य नही। 'मूलत' कारण यह था कि नागरिक बनने से पहले ही हम नागरिक के अधिकारो को उपयोग में लाने लगे। बहुत लम्बे अर्से की गुलामी की आदतों को हटाने के लिए हमारी शासन-प्रणाली ने कोई उचित विधि-विधान भी नहीं बनाया था। सन् १९४७ ई० के पहले भी हम बहुत-कुछ स्वार्थी और कृतघ्न ही थे। अब और भी अधिक हो गये है।

हमारी कृतघ्नता, हमारा स्वार्थ, हमारी संकीर्णता, हमारी अनैतिकता आदि किसी अंश मे कम हो सकें और औदात्य की भावनाएँ अंकुरित होकर पल्लवित हो सकें; इसीलिए 'औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी' शीर्षक से इस कृति की सर्जना की गयी है। हमारे देशवासी सच्चे अर्थो मे मानव बने, तब समझिए कि भारत ने कुछ प्रगति की है। तभी हमारी स्वतन्त्रता के योग का कुछ क्षेम माना जा सकता है।

प्रस्तुत कृति यदि हमारी जीवन-सरिता की काई को कुछ हटा सकी, तो लेखक अपने इस लघुतम प्रयास को सफल मानेगा। शैवालो और कगारो ने हमारी सरिता के प्रवाह को अवरुद्ध ही नही किया है, विकृत भी किया है। तुलसी के ग्रन्थ पश्चिम की ज़हरीली हवा को रोकने मे एक विशाल दीवार का काम कर सकते है; इसीलिए 'औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी' शीर्षक कृति की सृष्टि की गयी है।

हिन्दी मे कुछ लेखकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो साहित्यकार के दायित्व या प्रतिबद्धता को लेकर समाचारपत्रीय भाषा मे यह दावा करता रहता है कि लेखक को सर्वहारावर्ग का पक्ष लेकर जनवादी अथवा क्रान्तिवादी लेखन ही करना चाहिए।

ऐसे प्रगतिवादी, साम्यवादी अथवा समकालीन लेखकों को प्रस्तुत कृति संभवतः पसन्द न आए, क्योंकि तुलसी रोटी, कपड़ा और मकान के समर्थन मे हाथ धोकर पीछे नही पडे। उन्होंने तो मानवता के शरीर में आत्मा को देखा है, आत्मा के प्रकाश को देखा है। उस आत्मप्रकाश का नाम ही औदात्य है, जो महाकवि तुलसी के सत्पात्रो के जीवन मे अनुस्यूत है। '**औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी**' शीर्षक कृति उसी प्रकाश की ओर इंगन करती है।

प्रस्तुत कृति की प्रेसकापी मेरे शिष्य विशनकुमार शर्मा ने तैयार की है। कुछ लेखन-कार्य मेरी पुत्री (डा० कु० मधु शर्मा) ने भी किया है। मुद्रण के प्रूफ-सशोधन का कार्य विशनकुमार शर्मा ने ही किया है। माता वीणा-पाणि इन दोनो का मगल करे।

इन पंक्तियो का लेखक अपनी कुछ बातें हिन्दी-जगत् के समक्ष रखना चाहता था। प्रकाशको के द्वार अधिक समय तक खटखटाने नही चाहे। सरकार से अनुदान मिलने मे भी वडी अड़चनें थीं। जीवन के चतुर्थ चरण की यात्रा का कोई भरोसा भी नहीं; इसलिए जीवनसंगिनी श्रीमती बसन्तीदेवी शर्मा ने वासन्ती प्रकाशन के माध्यम से मेरी तीन पुस्तकों (**संस्कृति, साहित्य और भाषा, गीता : एक नव चिन्तन और औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी**) को हिन्दी संसार के समक्ष शीघ्र प्रस्तुत किया; इसलिए लेखक उनके प्रति कृतज्ञ है।

—महात्मा तुलसी के चरणो में प्रणाम निवेदित करतेहुए मैं अपनी यह बीसवी कृति हिन्दी-जगत् को अर्पित कर रहा हूँ, इसी आशा से कि हमारे जीवन-दीप मे अभी कुछ तेल बाकी है; इसे जलाओ, रोशनी होगी। जब हमारा जीवन-दीप बल उठेगा, तब अन्य दीपक भी उससे बलेंगे और फिर रोशनी आगे बढती जाएगी।

परितोष
ए, ८७, विवेकनगर
(आवास-विकास कालोनी), दिल्ली मार्ग,
सहारनपुर—२४७००१ (उ० प्र०)

अम्बाप्रसाद 'सुमन'

१. औदात्य और तुलसीदास

भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यो ने श्रृंगार रस और वीर रस को सत्व, रजस् और तमस् गुणो के आधार पर विभक्त नही किया है। मनोविज्ञान के आधार पर श्रृंगार रस और वीर रस के दो-दो भेद किये जा सकते हैं—(१) सात्विक श्रृंगार (२) राजस श्रृंगार। इसी प्रकार (१) सात्विक वीर (२) राजस वीर।

सात्विक श्रृंगार रस तथा राजस श्रृंगार रस के लिए परिपक्वता की दृष्टि से स्रष्टा काव्यकार अपनी कृति मे तदनुकूल भाषा और भावो की भी अभिव्यक्ति करता है। वह काव्य मे भाषा, अर्थ और भाव आदि का समष्टि रूप मे सहयोग देते हुए रस-निष्पत्ति किया करता है।

रीति, वृत्ति, शब्द-शक्ति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि सब भाषा के ही अंग है। ये अग वाग्देवी के शरीराग हैं और अर्थ वाग्देवी का मन है। मन की स्थिति शरीर से पृथक् नही हो सकती। उसी तरह अर्थ की स्थिति शब्द से पृथक् नही रह सकती। वाक् और अर्थ पार्वती-परमेश्वर की भाँति सयुक्त है। अर्धनारीश्वर शकर के शरीर मे लावण्य की भाँति वीर और श्रृंगार समाविष्ट रहते है और दीप्ति विकीर्ण करते हैं। भाव का आधार अर्थ और शब्द ही है।

'उदात्त' (उत्+आ+धा० दा+क्त) शब्द विशेषण है। इसका अर्थ है ऊँचा, महान्, उत्कृष्ट आदि। इसे अंग्रेजी में **सब्लाइम** कहते है। 'सब्लिमिटी' का अर्थ है **औदात्य या उदात्तता**। लॉन्जाइनस औदात्य को काव्य की आत्मा मानता है।

काव्यस्रष्टा कवि जब अपने सात्विक मनोराज्य मे विचरण करता है, तब उसकी वाणी या लेखनी से सात्विक भाषा मे सात्विक भावो की मन्दाकिनी प्रवाहित होती है। पश्चिम के यूनानी काव्यशास्त्री लॉन्जाइनस (ईसा की प्रथम शती) ने ऐसी कविता को **उदात्त** कहा है। **लॉन्जाइनस** जिसे उदात्त तत्त्व कहता है, उसे सात्विक भावतत्त्व माना जा सकता है। क्षेमेन्द्र का **औचित्य सिद्धान्त** कुछ-कुछ औदात्य से गले मिलने का प्रयास कर सकता है।

लॉन्जाइनस यह भी मानता है कि औदात्य (उदात्त तत्त्व) महान् आत्मा की सच्ची प्रतिध्वनि है और उदात्त वाणी सदात्मा व्यक्तियों को सहज ही प्राप्त होती है। सदात्मा अर्थात् उच्चात्मा व्यक्ति प्रतिभावान् होते है। ऐसे प्रतिभावान् व्यक्तियों मे महान् और सुष्ठु विचार निवास करते है और वे विचार उचित प्रसंगों के माध्यम से वाणी के रूप मे व्यक्त होकर समाज मे भव्यता की स्थापना करते है।

तुलसीदास जी ने 'मानस' के उत्तरकाण्ड मे काकभुशुण्डि और गरुड के संवाद के माध्यम से उदात्त जीवन के दिव्य लोकों के दर्शन कराये हैं। गरुड के प्रश्नों के उत्तरों मे उच्च नैतिक मूल्य निहित है। गरुड़ प्रश्न करते है—दुर्लभ शरीर कौनसा है? काकभुशुण्डि उत्तर देते हैं—मनुष्य-शरीर। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर चलते हैं—प्रश्न—बड़ा दुःख क्या है? उत्तर—दरिद्रता। प्रश्न—सन्त और असन्त का स्वभाव क्या है? उत्तर—सन्त का परोपकार, असन्त का परपीड़ा। प्रश्न—पुण्य और पाप क्या है? उत्तर—पुण्य अहिंसा पाप परनिन्दा। प्रश्न—मानस-रोग क्या है? उत्तर—मोह, काम आदि।

औदात्य के चितेरे कवि की वाणी का शब्दचयन, बिम्बविधान, अप्रस्तुत-विधान आदि सब कुछ गौरव की गरिमा और महत्ता के प्रभाव से संवलित रहता है। कृतिकार कवि के पक्ष मे जो 'उदात्त' है, वही पाठक या श्रोता के पक्ष मे 'आनन्द' है। श्रोता के उस आनन्द के मूल मे ऊर्जा, उत्साह और ओज का निवास रहता है। अतः उदात्त वाणी ऊर्जा तथा ओज प्रदान करती है।

औदात्य का प्रथम काव्य वाल्मीकिरामायण है। वाल्मीकि का काल ई० पू० ८०० वर्ष माना जाता है। राम का काल ई० पू० ३५०० वर्ष है। अर्थात् आज से ५००० वर्ष पूर्व राम का जन्म हुआ था। ई० पू० ८०० वर्ष में कोई लिपि न थी। वाल्मीकि ने अपना काव्य अपने शिष्यों (कुशीलवों) को रटाया था।

तुलसी के 'रामचरितमानस' के औदात्य का ही प्रभाव है, जो कि श्रोता या पाठक भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी उस कृति को श्रद्धा और प्रेम से पढ़ते हैं और राम-कथा में आनन्द लेते हैं।

औदात्यमयी रचना अमर होती है; क्योंकि औदात्य मानव-मन के सत्व-गुण के लिए सदा स्पृहणीय और वरणीय है।

आज बीसवीं शती में जो कविता और गद्य लिखा जा रहा है, उसे यदि कभी लॉन्जाइनस की आत्मा पढ़ेगी, तो निश्चित ही निकृष्ट ठहराएगी। कारण यह है कि आज का साहित्य केवल विषम और विकृत समाज का चित्र खींचता है। आज का साहित्यकार प्रमुख रूप से सत्रास और कुंठा को प्रस्तुत करता है, बिना समाधान के। व्यक्तिगत सन्त्रास और कुंठा से ऊपर उठकर समाज हित के लिए अर्थात् सार्वजनीन कल्याण के लिए जो साहित्यकार उदात्त साहित्य देगा, वही स्वस्थ लेखक माना जाएगा। लॉन्जाइनस की दृष्टि मे वही साहित्यकार अभिनन्दनीय और वन्दनीय है।

उदात्ततत्त्ववाला साहित्य समाज-कल्याण को देखता है, राजनीति को नही। राजनीति की लक्ष्मणरेखा के भीतर बँधकर औदात्य का साहित्य नही लिखा जा सकता।

राजनीति के सम्बन्ध मे महामनीषी कार्लायल का कथन है—"जिस किसी के दिल मे सचाई हो, जिस किसी की नसों मे विद्रोह की चिनगारी हो, जिस किसी के माथे पर ईमानदारी की रोशनी जगमगाती हो, उसके लिए जिन्दगी भर के अनुभव के बाद मेरी यह गम्भीर सलाह है कि उसे राजनीति के क्षेत्र मे भूलकर भी कदम नहीं रखना चाहिए।" धर्मनीति वह है, जो अशुभ की निन्दा करती है और उस अशुभ से सघर्ष भी करती है। धर्म वह सदाचरण है, जो शुभ को कर्म में उतारता है और उसकी स्तुति करता है। जितनी वादपरक कविताएँ, उपन्यास और कहानियाँ लिखी जा रही हैं, वे सब औदात्य की दृष्टि मे हेय हैं। औदात्य का लक्ष्य विश्वधर्म है अर्थात् मानव धर्म है। उदात्त तत्त्व का साहित्य राजनीति तथा सम्प्रदायों से ऊपर होता है। सम्प्रदाय धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, राजनीति के क्षेत्र मे भी बने हैं। उदात्त साहित्य सम्प्रदायो से दूर रहता है। उदात्त साहित्य के कमल-पत्रों पर सप्रदाय रूपी जल-बिन्दु ठहर नहीं सकते। उदात्त साहित्य सत् मानव की आत्मा का दिव्य साहित्य है, जो मानव को, मानव के चरित्र को और मानव की सद् भावनाओ को उठाता और सुदृढ बनाता है। महावैयाकरण पाणिनि ने उदात्तस्वर उसी स्वर की संज्ञा मानी है, जो ऊँचा बोला जाता है। उदात्ततत्त्व कविता को ऊँचा उठा देता है। उसमे भावो की ऊँचाई होती है। ऐसे भाव महात्मा कवि मे ही जनमते हैं।

जिस स्रष्टा कवि का मन जीवन भर विकृत रहा है जिसकी वासनाएँ क्षुद्र

और अधम रही हैं, उसकी लेखनी से औदात्यमयी कविता की सृष्टि नहीं हो सकती।

लॉन्जाइनस औदात्य के समर्थन में यह मानता है कि काव्य में बिम्ब की सार्थकता इस बात में है कि वर्ण्य विषय का मानसचित्र पाठक या श्रोता की आन्तरिक आँखों में प्रत्यक्ष हो जाए। साराश यह कि कवि की वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति अधिक सजीव और मूर्तिमान् होकर काव्य में प्रस्तुत किया जाए। कवि को अपने कथन से पाठक या श्रोता को मुग्ध करना चाहिए। उदात्त काव्य का यह एक प्रमुख गुण है।

महात्मा तुलसीदास जी ने भी अपनी कविता में शब्दों के द्वारा जीवन्त मानसचित्र प्रस्तुत किये है। उनके काव्यों में ऐसे अनेक स्थल है।

वन-मार्ग में भोली-भाली सरल ग्राम-वनिताएँ सीताजी से लक्ष्मण-राम का परिचय पूछती है। सीता जी उन्हें बता देती है कि गोरे रँग के सुन्दर शरीर-वाले मेरे छोटे देवर है और इनका नाम लक्ष्मण है। रामचन्द्र जी का परिचय देने मे सीता कुछ लज्जा जाती है। तब तुलसीदास ने चल-मानसचित्र के माध्यम से सीता जी द्वारा रामचन्द्र जी का परिचय दिलाया है—

"बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि।।"

(मानस, अयो० ११७/६,७)

(१) त्वचा (२) नासिका (३) कान (४) जिह्वा (५) आँख—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके विषय क्रमश स्पर्श, गन्ध, शब्द, रस और रूप हैं। इन पाचो विषयों मे रूप विषय अधिक स्पष्ट तथा प्रभावशाली है। अतएव कविता मे चाक्षुष बिम्ब सर्वाधिक मात्रा मे हृदय पर प्रभाव डालते है। जिस कविता मे चाक्षुष मानसचित्र अधिक होगे, वही उत्तम कोटि की मानी जाएगी।

पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध शक्ति है। जिन पदो से पदार्थ की स्पष्ट सबल अवगति होगी, वे ही पद काव्य को प्रणावन्त बनाते हैं। जिस कविता मे चाक्षुष बिम्ब विधायक पदावली अधिक होती है, और वह पदावली अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमता रखती है, उस कविता के स्रष्टा कवि को प्रतिभावान् कहा जाता है। प्रतिभा वस्तुतः अपूर्ववस्तु-निर्माण-क्षमता है।

औदात्य अपने पीछे चिन्तन की एक चिनगारी भी छोड़ता है

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ मे काकरूप जयन्त के सम्बन्ध मे लिखा है—

"एक नयन करि तजा भवानी ।" (मानस, अर०, २/१४)

उक्त अर्धाली के इस चरण को पढने के बाद सुधी पाठक यह विचार करने लग जाता है कि श्री राघवेन्द्र ने अहंकारी तथा ईर्ष्यालु काकरूप जयन्त की एक आँख ही क्यो फोडी ? एक आँख फोडकर फिर उसे प्रेमपूर्वक विदा क्यो कर दिया ? इतना ही नही, पाठक इस स्थल पर यह भी विचारता है कि श्रीराम ने काकरूप जयन्त की एक आँख फोड़ी, फिर भी तुलसी श्रीराम के लिए 'कृपालु' विशेषण दे रहे है, ऐसा क्यो ? तुलसी लिखते है—

"सुनि कृपाल अति आरत बानी । एक नयन करि तजा भवानी ।।"

(मानस, अर०, २/१४)

मानस में ऐसी चिन्तना की लहरों का उठना सिद्ध करता है कि तुलसी की कविता में उदात्त तत्त्व है । उदात्त वाणी मे अर्थ की अपेक्षा चिन्तन के लिए अधिक सामग्री होती है । औदात्य का लक्षण ही यह है कि सुनने के उपरान्त उस वाणी की प्रभाविनी तरगें मन के मानसरोवर मे उठती रहे, उठती रहें, निरन्तर उठती रहें ।

संस्कृतज्ञ तुलसी मानस के सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ के तीसरे श्लोक में 'अतुलितबलधामं' लिखते हैं । क्यो ? नपुसक लिग धामन् शब्द के रूप तो प्रथमा, द्वितीया के एक वचन में 'धाम' ही बनते है ।

लक्ष्मण के शक्ति लगजाने पर राम अपने मूर्च्छित अनुज को जघाओं पर लिटाए हुए शोकमग्न हैं और विलाप कर रहे हैं । प्रिय लघु भ्राता लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए श्रीराम कहते हैं—

"निज जननी के एक कुमारा ।" (मानस, लका०, ६१/१४)

श्रीराम ने लक्ष्मण के लिए 'निज जननी के एक कुमारा' क्यो कहा ? लक्ष्मण तो अपनी माता सुमित्रा के एक कुमार न थे । लक्ष्मण के साथ शत्रुघ्न भी थे पाठक इस पर चिन्तन करने लगता है । यह ——— का लक्षण है ।

शूर्पणखा सुन्दर रूप धारण करके श्रीराम के पास आती है और विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत करती है। श्री राघवेन्द्र कहते हैं कि मैं तो विवाहित हूं। यह मेरा छोटा भाई क्वारा है—

"अहइ कुआर मोर लघु भ्राता।" (मानस, अर० १७/११)

लक्ष्मण विवाहित थे। उनकी पत्नी उर्मिला थी, जो अयोध्या में ही सास-ससुर की सेवा के लिए रह गयी थी। फिर भी रामचन्द्र जी शूर्पणखा से कहते हैं कि लक्ष्मण क्वारा है। क्यों? इस पर 'मानस' का पाठक चिन्तन प्रारम्भ कर देता है। यह उदात्त काव्य का ही लक्षण है।

श्रीराम सीता की खोज में जानेवाले हनुमान् को मुद्रिका देते हैं।

"कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी।" (मानस०, किष्कि०, २३/१०)

पाठक सोचता है कि राम के हाथ मे मुद्रिका कहाँ से आयी? वे तो अयोध्या से वन के लिए तपस्वी वेष में निकले थे।

सागर-तट पर जाम्बवन्त, हनुमान्, अंगद आदि वानर बैठे हैं सागर को कौन पार करे? यह प्रश्न है। अंगद कहता है—

"अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जियँ संसय कछु फिरती बारा।"
(मानस, किष्कि०, ३०/१)

इस अर्धाली को पढ़ते ही पाठक के मन मे चिन्तन आरम्भ हो जाता है कि अंगद को क्या संशय है वापस आने मे?

तुलसी के काव्यों में कुछ स्थल ऐसे भी मिलते हैं, जहाँ भौतिक जगत् की अघटित घटनाओं को घटित होते हुए दिखाया गया है। 'मानस' के बालकाण्ड मे जनक की पुष्पवाटिका में सीता जी गौरी का पूजन करती हैं और उनके माला डालती हैं। कुछ समय बाद यह माला खिसक जाती है और भवानी की मूर्ति मुसकाती है। गले की माला खिसक तो नहीं सकती। फिर भी तुलसी ने लिखा—

"विनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥"
(मानस, बाल०, २३६/५)

तुलसीदास ने ऐसा क्यों लिखा?

विचार या भाव का चिन्तन ही नहीं, तुलसी शब्द-चिन्तन की चिनगारी भी छोड़ते चलते हैं। पाठक पढ़ने के बाद उन शब्दों पर चिन्तन आरम्भ कर देता है।

रामचरितमानस० में श्री रामचन्द्र जी के लिए तुलसीदास जी ने कहीं 'राम', कहीं 'रामा', और कहीं 'रामू' लिखा है। ऐसा क्यों है ? इस पर मानस का पाठक विचार करता है।

महीनों के चिंतन के बाद पाठक को विदित होता है कि 'राम' शब्द जब व्याकरणिक पद के रूप में राम तथा रामु प्रयुक्त होता है, तब छंद के निर्वाह के लिए अर्धाली के चरणांत पद के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है अर्थात् 'राम' का 'रामा' और 'रामु' का 'रामू' कर दिया जाता है। 'रामु' पद पुंलिंग एक वचन है। यह रूप प्रथमा या द्वितीया विभक्ति में ही आता है। मानस में जहाँ भी 'रामू' पद का प्रयोग होगा, वहाँ रामू प्रथमा विभक्ति एक वचन, या द्वितीया विभक्ति एक वचन में ही होगा।

'रामू' प्रथमा विभक्ति में—

"रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू।"
(मानस, अयो०, १९७/४)

'रामू' द्वितीया विभक्ति में—

"बंदउँ बाल रूप सोइ रामू। सब विधि सुलभ जपत जिसु नामू॥"
(मानस, बाल०, ११२/३)

शब्दों के लिंग प्रयोग के सम्बंध में भी तुलसी चिंतन की धारा प्रवाहित करते है। 'प्रश्न' शब्द पुंलिंग है। मानस मे तुलसीदास ने प्रस्न (सं० प्रश्न) को नौ स्थलों पर स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है। नौवीं बार प्रयोग करते हैं—

"कहिउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम भगति महिमा अति भारी।"
(मानस, उत्तर०, ११४/१६)

पाठक विचारता है कि ऐसा क्यों है ? स्त्रीलिंग में यह शब्द क्यों प्रयुक्त किया गया ?

'अभिनन्दन' शब्द का का अर्थ है 'स्वागत', 'प्रशंसा' आदि। तुलसी ने मानस के अयोध्या काण्ड में इस शब्द का प्रयोग अनुमोदन या समर्थन के अर्थ में क्यों किया है ? यह प्रश्न पाठक के मन में उठ जाता है।

"गुर के बचन सचिव अभिनंदनु।" (मानस, अयो०, १७६/७)।

'अभिनन्दन' में वक्र अर्थ है।

भामह ने काव्यालंकार (का० ६६) मे कहा है कि वाणी की शोभा वक्र शब्द और वक्र अर्थ से निष्पन्न होती है। वक्र शब्द ही शब्दविचलन है। ऐसा शब्दविचलन प्रतिभाशाली कवि ही कर सकता है। भट्टतोत प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी और अभिनवगुप्त अपूर्व-वस्तु-निर्माणक्षम बतलाता है।

गोस्वामी तुलसीदास झंडे-झंडियो के सम्बंध मे ध्वजा, केतु, दंड, पताका आदि शब्दो का प्रयोग करके पाठक को इस विचार में डाल देते है कि इनमें क्या अन्तर है ?

कई दिन चिंतन करने के उपरान्त पता चलता है कि तुलसी 'पताका' शब्द का प्रयोग झंडी के अर्थ मे करते है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि झंडे के ऊपरी सिरे पर जो वस्त्र-खण्ड लहराता है, उसे पताका कहा गया है। दंड और पताका मिलकर ध्वजा या केतु कहे जाते हैं। तुलसी लिखते है, राम की कीर्ति एक पताका के समान है और लक्ष्मण का यश उस पताका के दंड के समान है—

"रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका।"
(मानस, बाल०, १७/६)

साराश यह कि तुलसी के मतानुसार ध्वजा और केतु समानार्थी हैं। ध्वजा=केतु। केतु=ध्वजा। ध्वजा या केतु=दंड+पताका।

श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न विवाहित होकर जब जनकपुर से अयोध्या मे आ जाते हैं, तब उनकी माताएँ उनका मुख देखती है। तुलसी लिखते हैं—

"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (मानस, बाल०, ३५८/८)

पाठक विचारने लगता है कि यहां तुलसी ने 'सादर' क्यो लिखा ? माताएँ पुत्रों को सादर क्यो देखेंगी ? वात्सल्यपूर्वक देख सकती हैं।

कहा जा चुका है कि सात्त्विक शृंगार और सात्त्विक वीर उदात्त काव्य के प्रमुख रस है। मासल अथवा अश्लील शृंगार औदात्य के आँगन मे नहीं आ सकता।

राजस शृंगार और राजस वीर उदात्त कविता के लक्ष्य नहीं है। हिन्दी-रीतिकाल के कवियों का मांसल शृंगार उदात्त वाणी के क्षेत्र मे नही आता। वह नितान्त राजस शृंगार है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल मे अर्थात् वीरगाथा काल मे कविता मे वीर रस तो मिलता है, किन्तु उस वीरभाव के मूल में कामवासना का बीज है। पृथ्वीराज आदि राजाओं की वीरता सुन्दर नारियो की प्राप्ति के लिए ही है। अत वह वीररस उदात्त वाणी का अभिमण्डन नही माना जा सकता।

श्री राघवेन्द्र की वीरता, श्री राघवेन्द्र का ओज, श्री राघवेन्द्र का तेजस्—उद्दीप्त उत्साह उस रावण के सहार के लिए है, जिसके अत्याचार, दुराचार और व्यभिचार से पृथ्वी काँपती थी और जो कामी तथा अहकारी था। श्रीराम की वह वीरता उदात्तवाणी का अभिमण्डन है, क्योकि वह वीर रस सात्विक है, राजस नही। राम-रावण-युद्ध का प्रसग रामचरितमानस के लकाकाण्ड में सात्विक वीर रस का प्रभाव प्रदान करता है। तुलसी लिखते है—

"खेचि सरासन श्रवन लगि छाड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस॥"

(मानस, लका०, १०२/-)

उपर्युक्त दोहे में आदर्श सात्विक वीर भाव की अभिव्यक्ति हुई है—यह औदात्य है।

सुग्रीव के धन, पत्नी आदि का अपहृरण करनेवाले तथा सुग्रीव को सताने वाले बालि को श्रीराम ने धनुष पर वाण का सधान करके मारा। तुलसी लिखते है—

बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि।
मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि॥"

(मानस, किष्कि०, दो० ८/–)

श्रीराघवेन्द्र का यह सात्विक वीर भाव माना जाएगा।

सौन्दर्य के प्रति कवि या कविनिबद्ध पात्र की दृष्टि दो प्रकार की हो सकती है—(१) वासनामयी भोगदृष्टि (२) संयमित परितृप्त दृष्टि।

कालिदास की वाणी के माध्यम से राजा दुष्यन्त का कथन शकुन्तला के विषय मे अपने मित्र माढव्य के प्रति इस प्रकार है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि

(अभिज्ञानशाकु०, अक २/श्लो० १०)

(अर्थात् मेरी समझ मे तो उसका रूप वैसा ही है, जैसा बिना सूँघा हुआ फूल, नखो से अछूता पत्ता, बिना बिंधा रत्न, बिना चखा हुआ मधु और बिना भोगा हुआ पुण्यफल; पर यह समझ मे नही आता कि इस रूप को भोगने के लिए ब्रह्मा ने किसे चुन रखा है ?)

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि इस कविता में मांसल शृंगार है और इसमे सौन्दर्य के प्रति भोग की अतृप्त भूख है और वह भूख मांसल है। उसमे सात्विक प्रेम नही, वासनामय प्रेम है अर्थात् राजस प्रेम है।

भवभूतिकृत 'उत्तररामचरित' नाटक में श्रीराम सीता जी के सम्बन्ध में प्रेम-भाव इस प्रकार व्यक्त करते है—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस :।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर :
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह :।"
(उत्तररामचरित, अक १/श्लोक ३८)

(अर्थात् यह सीता घर मे लक्ष्मी है। यह नेत्रो के लिए अमृतशलाका है। इसका यह स्पर्श शरीर पर प्रचुर चदनरस है। इसकी यह भुजा गले मे शीतल और कोमल मुक्ताहार है। इसकी कौन-सी वस्तु प्रिय नही है ? किंतु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है।)

उपर्युक्त भावागत अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य के प्रति दाम्पत्य जीवन की संयमित परितृप्ति है। इसमें सुख-शान्ति की विभूति है, जो मानव-जीवन को स्वस्थ और सुखी बनाती है। यही हमे जीवन की उदात्तता के भी दर्शन कराती है।

अत. हम कह सकते हैं कि जीवन-बोध की दृष्टि से भवभूति की सौन्दर्याभिव्यक्ति अधिक उच्च और उत्कृष्ट है। इसमे औदात्यमयी संयमित परितृप्त दृष्टि है। कालिदास की सौन्दर्य दृष्टि अपेक्षाकृत निम्न है; क्योंकि वह दृष्टि मांसल है, वासनामयी है तथा भोगवादिनी है। इसे राजस शृंगार में ही स्थान दिया जा सकता है, सात्विक शृंगार मे नहीं। भवभूति की सौन्दर्य दृष्टि सात्विक शृंगार में स्थान पाने की अधिकारिणी है। भवभूति की सौंदर्य दृष्टि आत्मोत्थान प्रदान करने के लिए श्रेयस्करी मानी जा सकती है।

तुलसीकृत 'मानस' की पार्वती शंकर को काम-शृंगार या रूप-सौन्दर्य से प्रसन्न नहीं करतीं, अपितु तप से करती हैं। मन, वचन और कर्म का तप

ही सुखद है—"तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा।" (मानस, बाल०, ७३/२)। अगणित सरिताओं का मीठा जल समुद्र में एकत्र होता रहता है, फिर भी समुद्र खारा रहता है। जब सागर स्वयं तप करता है, तब उस तप से वही खारा जल मीठा बनता है। मानव जीवन में तप ही औदात्य का प्राणतत्व है। तुलसी इसके समर्थक हैं।

महात्मा तुलसीदास शृंगार-वर्णन में बहुत सावधान हैं। शृंगार-वर्णन में तुलसी कहीं भोगवादिनी अतृप्त दृष्टि नहीं रखते। तुलसी का शृंगार पार्वती तथा सीता के प्रसंग में सात्विक है। यदि कहीं सीता का राजस शृंगार वर्णित है, तो तुलसी वहाँ विष्णु-लक्ष्मी के रूप में राम-सीता की पुरातन प्रीति बताकर उस राजस शृंगार को सात्विक शृंगार के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। सीता जी तुलसीदास के लिए जगज्जननी हैं और श्री रामचन्द्र जी जगत्-पिता हैं। पाठक की मानसभूमि में सीता और राम जगज्जननी और जगत्पिता के रूप में रहते हैं, इसलिए उनका शृंगार कभी राजस शृंगार नहीं बनता। सीता जी के सौन्दर्य वर्णन की पवित्रता में वाल्मीकि और रामशर्मन् इतने सावधान नहीं, जितने कि तुलसी।

किशोरी सीता जी जब सुन्दर साड़ी में जनकपुर की रंगभूमि में आती हैं, तब तुलसी उनकी छवि का वर्णन करते हैं। सीता जी के नवल तन पर सुन्दर साड़ी का वर्णन करते हुए तुलसी तुरन्त उन्हें जगज्जननी संज्ञा से अभिहित कर देते हैं। इस संज्ञा के प्रयोग से पाठक के मन की सौंदर्यानुभूति पूर्णतः पवित्र बन जाती है। सीता जी का शृंगार वर्णन तब पूर्ण पवित्र तथा सात्विक रूप ग्रहण कर लेता है। अर्धाली के प्रथम चरण के उपरान्त दूसरे चरण को पढ़ते ही पाठक के मन-मानस में सात्विक भावों की श्रद्धामयी तरंगें उठने लगती हैं—

"सोह नवल तन सुन्दर सारी। जगतजननि अतुलित छबि भारी।"
(मानस, बाल०, २४८/२)

वाल्मीकि रामायण के लक्ष्मण अपने पिता दशरथ के प्रति बड़े कठोर और मर्यादाहीन वाक्य कहते हैं। वाल्मीकि की सीता भी लक्ष्मण से बहुत अमर्यादित वाक्यावली का प्रयोग करती हैं, जिससे लक्ष्मण तिलमिलाकर मारीचवधकर्ता राम के पास चले जाते हैं। तुलसी के 'मानस' में वैसा कुछ नहीं मिलता। तुलसी पारिवारिक मर्यादाओं तथा आचारसंहिताओं को पूरी तरह निभाते हैं और वाङ्मय तप के साथ औदात्य की रक्षा करते हैं।

शूर्पणखा आदि का शृंगार और सौन्दर्य तुलसी की लेखनी से चित्रित है। उसमे राजस शृंगार की ही गंध नही मिलती, अपितु तामस शृंगार की दुर्गन्ध भी पायी जाती है। कारण स्पष्ट है कि उस शृंगार-वर्णन से पहले तुलसी उस पात्र को क्रूर तथा दुष्ट चित्रित कर देते है। अतः उसके रूप-सौंदर्य का प्रभाव पाठक पर पडता ही नही। शूर्पणखा कामासक्ता है, मासलशृंगाररसिका है अर्थात् उसमे मात्र सौंदर्य है, शिवत्व नहीं। तुलसी शिवत्वपूर्ण सौंदर्य के व्याख्याता है।

तुलसी शूर्पणखा के विषय मे लिखते हैं—

"रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई।।
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी।।"
(मानस०, अर०, १७/७,८)

इन अर्धालियों को लिखने से पहले तुलसीदास इस निम्नांकित अर्धाली को लिख चुके हैं—

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी।।"
(मानस, अर०, १७/३)

इस अर्धाली के उपरान्त जब पाठक "रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई।।" पढता है, तब शूर्पणखा पाठक की वासना का आलंबन न बनकर, घृणा उपेक्षा तथा उपहास का आलम्बन बन जाती है।

तुलसीदास के काव्यों के सभी प्रमुख सत् पात्र पाठकों को औदात्य का आनन्द प्रदान करते है। तुलसी के सत्पात्रो मे सत्य, शिव, सुन्दरं का समावेश है। तुलसी उसी सौन्दर्य को स्वीकारते है, जिसमे शिवत्व का अमृतरस है। शिवत्व की रक्षा के लिए ही तुलसी ने 'रामचरितमानस' मे सीता-वनवास के प्रसंग को नही लिखा। वाल्मीकिरामायण का अनुसरण नही किया, अपितु अध्यात्मरामायण का किया।

आइंस्टीन के एक जर्मन मित्र ने पत्र के द्वारा आइंस्टीन से पूछा कि "मैं जीवन में शान्ति और सुख कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ?" उत्तर मे आइस्टीन ने उस मित्र को लिखा था कि "म्युनिख के आस-पास के नैसर्गिक सौन्दर्य का आनन्द लो। कुछ पशु-पक्षियों को अपना दोस्त बना लो। कान्ट और गेटे का साहित्य पढ़ा करो।" औदात्य के कवि के काव्य में प्रकृति की नैसर्गिक छटा नान[illegible] औद[illegible] एवं [illegible] रहती है। उसमें आध्या-



त्मिक रस भी समाविष्ट रहता है । तुलसी के 'मानस' मे चित्रित चित्रकूट की नैसर्गिक छटा मे राम के जीवन के औदात्य का रस मिला हुआ है । वहाँ भौगोलिक प्रकृति और मानवीय प्रकृति का तादात्म्य है । तुलसी लिखते है—

"करि केहरि कपि कोल कुरंगा । बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ।।"
(मानस, अयो०, १३८/१)

लॉन्जाइनस के मत मे बिम्ब का अर्थ है 'मानस-चित्र' और मानस-चित्र का आधार है कल्पना। बिम्ब विषय-वस्तु को मूर्त और सचित्र रूप प्रदान करता है । तुलसीकृत रामचरितमानस की सीता ने ग्राम-वधुओ को जिस मुद्रा और चेष्टाओ से अपने पति श्रीराम को बताया है, वह बहुत उत्तम बिम्ब-विधान है, जिससे भारतीय शीलवती नारी के सहज स्वभाव का चित्र प्राणवन्त रूप मे प्रस्तुत हुआ है । इस बिम्बात्मकता मे ऐसा मधुर-मनोहर सौन्दर्य है, जिसका प्राण शिवत्व है और जिसकी आत्मा सत्य है ।

"बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।।
खजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ।।"
(मानस, अयो०, ११७/६, ७)

हिन्दी काव्य-साहित्य मे तुलसीदास से बढकर कोई ऐसा कवि नही, जिसे औदात्य के क्षेत्र मे बडा माना जाए । श्रीराम, श्रीसीता जी, भरत, लक्ष्मण और हनुमान् तो ऐसे पात्र है, जिनके द्वारा औदात्य का स्वरूप सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है । पात्र, भाषा, अर्थ और भाव की दृष्टि से तुलसी का काव्य औदात्य से परिपूर्ण है ।

तुलसी का काव्य विकृत मन का काव्य नही; आत्मा का काव्य है । इसलिए वह उदात्त काव्य है । तुलसी के काव्य मे पात्र, प्रसग, भाषा, अर्थ, भाव आदि सब कुछ उदात्त हैं । तुलसी काव्य मे तीन तत्त्वों को प्रमुख मानते हैं— (१) सुभाषा (२) अनूप अर्थ (३) सुभाव ।

"अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ।।"
(मानस, बाल०, ३७/६)

लॉन्जाइनस का कथन है कि सच्चा औदात्य हमे ऊपर उठाता है । पाठक के रूप में हमारी मनःस्थिति गर्वोन्नत होती है और हम आनन्द का अनुभव करते हैं । औदात्य की वाणी के कवि के साथ पाठक इतना अधिक आत्मसात् हो जाता है कि उस कविता को अपनी कविता ही मानने लगता है । 'औदात्य'

का सिद्धान्त तो यही मानता है कि जो मानव-चरित्र को ऊँचा उठाता है, वही साहित्य है; शेष सब कुछ वाक्छल है। उदात्त तत्त्व का काव्य विश्वात्मा का काव्य होता है।

कवि की शब्द-शक्ति जिस चित्र या मूर्ति का निर्माण करती है, वह मूर्ति मिट्टी या प्रस्तर की मूर्ति नही होती; अपितु दिव्यमानसी-भावमूर्ति होती है। वही भावमूर्ति पाठक या श्रोता के मानस मे रसानुभूति कराती है। कवि की काव्यानुभूतिमयी भावमूर्ति पाठक के लिए रसानुभूति का कारण बनती है। वह कवि निर्मित भावमूर्ति जितनी उत्कृष्ट तथा उदात्त होगी, उतनी ही उदात्त रसानुभूति भी होगी। रस वास्तव मे पाठक के मानस मे पूर्णत. उद्‌बुद्ध वह भाव है, जो कवि की मानसी भावमूर्ति से जगकर उल्लसित हुआ है। पाठक के मन पर पडी हुई भावमूर्ति की छाप ही तो भाव है। उस भाव की परिपक्वावस्था का नाम रस है। रस भाव की घनीभूत अवस्था ही है। इसी का नाम काव्यानन्द है। इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य पढा जाता है।

महात्मा तुलसीदास रसात्मकता के लिए बिम्बसृष्टि करते है। प्रबन्धात्मक महाकाव्य 'मानस' मे यदि कथा-गति के कारण तुलसी सश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत नही कर सके हैं, तो उसी प्रसग का विस्तृत सश्लिष्ट बिम्ब उन्होंने कवितावली अथवा गीतावली में प्रस्तुत किया है।

ग्राम-वनिताएँ वन-मार्ग मे सीता जी से पूछती हैं—

"कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥"

(मानस, अयो०, ११७/१)

गोस्वामी तुलसीदासकृत 'मानस' के 'कोटि मनोज लजावनि हारे' का भाव-विस्तार विस्तृत सश्लिष्ट बिम्बसृष्टि द्वारा 'कवितावली' मे इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"सीस जटा उर बाहु बिसाल
बिलोचन लाल तिरीछी-सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरे
तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं ॥
सादर बारहिं बार सुभाय
चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।

पूछति ग्राम बधू सिय सों
कहौ साँवरे-से सखि रावरे को हैं ।।"
(कवित्ता०, अयो०, छंद २१)

× × × ×

"प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी ।
धाए राम सरासन साजी ।।"
(मानस, अर०, २७/१०)

'धाए राम सरासन साजी' का बिम्ब-विस्तार 'गीतावली' में इस प्रकार किया गया है—

"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछे ।।"
(गीतावली, अर०, पद ३)

आज लोक में सहस्रों मनुष्य हैं जो अपने मत और भावों के समर्थन मे तुलसीदास के दोहे तथा अर्द्धालियाँ उद्धृत करते हैं। इससे सिद्ध है कि तुलसी का काव्य औचित्य से परिपूर्ण है । औदात्य से सपृक्त है । सदाचरण से अनुस्यूत है ।

उदात्त काव्य मे भाषा की अलकारमयी छटा तो होती ही है, साथ में उस काव्य से रचनाकार की प्रतिभा की ऊँचाई भी व्यक्त होती है । उदात्तवाणी श्रोता के मन को आनन्द प्रदान करती है। आत्मा को उठाती है ।

लॉन्जाइनस औदात्य के काव्य की भाषा में स्पष्टता और बोधगम्यता का गुण आवश्यक मानता है । गोस्वामी तुलसीदास जी भी काव्य की भाषा मे सरलता चाहते हैं। तुलसी का सुभाषा से तात्पर्य सरल भाषा से है । 'मानस' के बालकाण्ड मे तुलसी लिखते है—

"सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान ।"
(मानस, बाल०, दो०, १४ (क)/-)

सरल-सरस भाषा कवि की कला के लिए उपादान सामग्री है। जिस कवि के पास सरल, सरस स्पर्शिनी तथा प्रभाविनी भाषा है, उसकी काव्य-कला गजब की होगी ।

तुलसी के पद राग-रागिनियों में आबद्ध हैं। 'मानस' की अर्धालियाँ भी अनेक प्रकार की लयों मे गायी जाती हैं। उदात्त काव्य में लय का भी महत्त्व

है। उदात्तवाणी अपनी विशिष्टलयपूर्ण गति का विधान करके अपने श्रोताओं को लय मे झुमा देती है। उदात्त कविता का पाठक भी कविता की लय मे बँधकर अपने सुर की गति और लय का न्यास करता है, भले ही पाठक या श्रोता संगीत न जानता हो।

बीन की अर्थहीन ध्वनियाँ श्रोता को झुमा देती हैं। काव्य के शब्दो में सभी ध्वनियाँ सार्थक होती है। उनके प्रभाव से कौन प्रभावित न होगा? उदात्त काव्य मे छन्द भी सार्थक होता है। 'छन्द' शब्द मे √छदिर् धातु है, जो ऊर्जन [बल] अर्थ मे आती है। उदात्त काव्य मे छन्द ऊर्जा प्रदान करता है। छन्द काव्य के प्रभाव मे आनन्द की वृद्धि करता है; क्योंकि छन्द एक प्रकार से लय ही तो है।

औदात्य के कवि की आस्था छन्द में पूर्णतया रहती है। वह मानता है कि छन्दोमयी भाषा मे ध्वन्यात्मकता, गति और लय पाठक या श्रोता के मन को रमाती है। वह विराम का नहीं, लय तथा गति का पक्षधर होता है।

लॉन्जाइनस का मत है कि क्षुद्र शब्दो के प्रयोग से काव्य की भव्यता नष्ट हो जाती है। क्षुद्र प्रयोगो से औदात्य को हानि पहुँचती है। शब्दो के प्रयोग मे भाव आदि की दृष्टि से किस स्थल पर कौन-सा शब्द प्रयुक्त किया जाना चाहिए, तुलसी इसे भली प्रकार जानते हैं।

'पार्वती' शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। उमा, भवानी, शिवा, गौरी, मैनासुता, हिमाचलपुत्री आदि पार्वती के ही नाम हैं। इन सब नामों को छोड़कर सीता जी पार्वती के मन्दिर में पूजा करते समय 'गिरिबरराजकिसोरी' और 'महेसमुखचन्द्रचकोरी' नामों से ही सम्बोधित करती है—

"जय जय गिरिबरराज किसोरी। जय महेस मुख चंद चकोरी॥"

(मानस, बाल०, २३५/५)

सीता जी पतिरूप में मनोवाञ्छित श्रीराम को ही चाहती है। इस अभिलाषा की पूर्ति गिरिबरराजकिशोरी ही करा सकती हैं, क्योंकि गिरिवरराज-किशोरी ने ही अपनी महती तपश्चर्या के बल से शंकर को पति-रूप मे प्राप्त किया था और सच्चे रूप से अर्धांगिनी बनी थी।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति (ज्ञान) और अभ्यास काव्य के निमित्त कारण हैं। उपादान कारण हैं, सुन्दर शब्द और सुन्दर अर्थ। सुन्दर से तात्पर्य है, वक्र। आचार्य भामह विरचित 'काव्यालंकार' (कारिका ६६) मे कहा गया है कि "वाणी की शोभा वक्र शब्द और वक्र अर्थ से ही निष्पन्न होती है।" 'गिरिबरराज-

किशोरी' मे वक्र अर्थ समाविष्ट है। शिवा, भवानी, पार्वती, गौरी आदि शब्दों से उस समुचित अभीप्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। शब्दात्मक वक्रोक्ति शब्द-विचलन ही है। यह भाषा मे शैली का प्रमुख साधन है। शैली भाषा मे ही निवास करती है, किन्तु शैली भाषा से पृथक् है और अपृथक् भी।

कालिदासकृत कुमारसंभव की पार्वती को आराधना के समय जब यह मालूम होता है कि शंकर ने काम को भस्म कर दिया, तब निराश-सी होकर वह अपने रूप की निन्दा करती हैं, अर्थात् कालिदास की पार्वती कुछ कामासक्ता है, किंतु तुलसी की पार्वती शंकर को अकामी और अभोगी मानती है, इसीलिए तपस्या से ही उन्हे प्रसन्न करती है। तुलसीकृत 'मानस' की पार्वती श्रद्धामय औदात्य की मूर्ति हैं। वे कामरहित चकोरी हैं और शिव कामनाशक चन्द्र हैं।

चकोर को जैसे चन्द्र सदा प्रिय है; पार्वती को जैसे महेश सदा प्रिय हैं, उसी प्रकार सीता को राम सदा प्रिय हैं। निष्काम प्रेम की इस लगन के महत्त्व को तथा गहराई को महेशमुखचन्द्रचकोरी ही जान सकती है; इसीलिए उपर्युक्त दो सम्बोधनो से सीता जी ने पार्वती का जय-जयकार किया है और प्रार्थना की है। पार्वती की दृढता तथा घोर तपस्या का प्राणवत बिम्ब 'गिरिबरराजकिसोरी' के प्रयोग से ही बन सकता है।

चौदहवर्ष की अवधि बीतने में एक दिन शेष है। भरत श्रीराम के आगमन की प्रतीक्षा में नंदिग्राम मे बैठे है। अनेक संदेह, शंकाएँ तथा आशंकाएँ भरत के मन में उठ रही है। भरत कहते है—

"कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥"

(मानस, उत्तर०,१/२)

इस उपर्युक्त अर्धाली को तुलसी इस प्रकार भी लिख सकते थे और छन्द मे यति-गति की स्थिति मे कोई व्याघात न पड़ता—

"कारन कवन 'राम' नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥"

यहाँ 'नाथ' के स्थान पर 'राम' शब्द का प्रयोग किया जा सकता था। 'नाथ' और 'राम' में समान मात्राएँ है। छन्द का निर्वाह पूरा ही रहता। फिर तुलसी ने 'नाथ' ही क्यो लिखा?

विचारणीय यह है कि जिस वातावरण, मनोभूमि और अयोध्या की दशा को दृष्टि-पथ में रखते हुए तुलसी ने 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है, उसके स्थान पर 'राम' शब्द का प्रयोग उसकी संपूर्ति नहीं कर सकता था।

श्री राघवेन्द्र के वियोग में सारी अयोध्या अनाथ हो गयी थी। भरत भी अनाथ हैं। जिस अयोध्या के राज्य की देख-भाल भरत कर रहे हैं, उस राज्य के वास्तविक राजा तो रघुनाथ ही हैं। तात्पर्य यह कि उस अनाथ अयोध्या को सनाथ करने के लिए 'नाथ' क्यों नहीं आये? इसी भाव को प्राणवन्त बनाने के लिए तुलसी ने 'राम' शब्द का प्रयोग न करके 'नाथ' शब्द का ही प्रयोग किया।

युगों के प्यासे की प्यास अच्युतचरणतरंगिणी गंगा ही बुझा सकती है। करुणाकर ही अपराधसिन्धु को क्षमा करके अपनी शरण में ले सकते हैं। संसार-संताप रूपी सर्प को भगवान् गरुडवाहन का गरुड ही नष्ट कर सकता है। ऐसे उपयुक्त शब्दों के प्रयोग भावाभिव्यक्ति में प्राणशक्ति का प्रबल संचार करते हैं।

तुलसी संसार रूपी सर्प से ग्रस्त है। उस सर्प से छुटकारा वे ही भगवान् दिला सकते हैं, जो गरुड़गामी हैं। गरुडगामी प्रभु भव-कष्ट मिटाने के लिए बहुत जल्दी भी आएँगे, क्योंकि गरुडगामी भगवान् के गरुड की गति लगभग मन की गति के ही समान है। तुलसीदास 'विनय-पत्रिका' में प्रभु से विनय करते हैं—

"मैं अपराध-सिंधु करुनाकर! जानत अंतरजामी।
तुलसिदास भवब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी॥"
(विनय०, पद ११७)

गरुड-गामी (उरग-रिपु-गामी) ही संसार रूपी सर्प से ग्रस्त तुलसी को बचा सकते हैं। 'भवब्याल' के लिए 'उरगरिपु' का प्रयोग भाव को विद्युत्-प्रकाश की भाँति चमका रहा है। 'उरगरिपुगामी' पद में कमाल की वक्रोक्ति है। इसे ही आधुनिक शैलीविज्ञान संज्ञा-विचलन कहता है।

'सूर्य' के लिए साहित्य में अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित हैं—रवि, दिनकर, दिवाकर, अरुण, मार्तण्ड ग्रहपति, पतंग, दिनेश आदि। तुलसी जानते हैं कि कब किसका चयन किया जाना चाहिए? प्रातः का सूर्य अरुण और दोपहर का मार्तण्ड कहलाता है प्रातःकाल का समय है श्रीराम

लक्ष्मण से कहते है कि तात ! अरुण उग आया; देखिए। यहाँ अरुण का प्रयोग ही उचित है।

"उयउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक सुखदाता।।"
(मानस, बाल०, २३८/७)

पुरुष मे पौरुष है, नारी मे कोमलता है। नारी के अग ही कोमल नही होते, वाणी और हृदय भी कोमल होते है। श्रीराघवेन्द्र गगापार हो जाने पर केवट (मल्लाह) को उतारने की मजदूरी देना चाहते है, लेकिन तापसवेषी वनवासी राम के पास देने को था ही क्या ? मन के भावों को सीता जी ने जान लिया और अपने हाथ की अँगूठी उतारकर श्रीराम को दे दी; ताकि श्रीराम केवट को मजदूरी दे दें। तुलसी लिखते है—

"पिय हिय की सिय जाननिहारी" (मानस, अयो०, १०२/३)

इसमे सम्पूर्ण वर्ण-विन्यास कोमल है।

महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण ध्वनियो की अपेक्षा कठोर होती है। 'सागर' शब्द मे सभी ध्वनियाँ कोमल हैं। 'पयोधि' की महाप्राण 'ध' ध्वनि कठोर है। अतः 'सागर' की अपेक्षा 'पयोधि' शब्द कठोर है।

हसनी-सीताजी के लिए वनरूपी 'पयोधि' बहुत कष्टप्रद होगा। खारी पयोधि के जल से हसनी कैसे जीवन काट सकेगी ? श्रीराम के शब्दो के माध्यम से तुलसीदास कहते हैं—

"मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली।।"
(मानस, अयो०, ६३/६)

उपर्युक्त अर्धाली मे 'पयोधि' जितना कठोर शब्द है; मराली उतना ही कोमल है। 'हँसी' मे 'ह' ध्वनि कठोर है, 'मराली' उसकी अपेक्षा बहुत कोमल है। सीता और वन के प्रसग मे मराली और पयोधि का प्रयोग भाव की दृष्टि से मणि-काचन प्रयोग है। शब्द-संयोजना के लिए तुलसीदास श्लाघनीय और वंदनीय है। उदात्त कविता के गुणो की सार्थकता भावानुगामी शब्द-प्रयोग पर निर्भर है और यह गुण तुलसी के काव्य मे वर्तमान है।

साराश यह है कि लॉन्जाइनस उदात्त काव्य मे जिन गुणों को अनिवार्य मानता है, वे गुण तुलसी के 'मानस' मे तथा अन्य ग्यारह काव्यो मे भी बहुत कुछ पाये जाते है।

○ ○

२. वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ

श्री रामचरितमानस के बालकाण्ड के प्रारम्भ मे गोस्वामी तुलसीदास जी मगलकर्ता वाणीविनायक की तथा श्रद्धाविश्वासरूप भवानी-शंकर की वन्दना करने के उपरान्त विज्ञानरूप कवीश्वर वाल्मीकि एव विज्ञानरूप कपीश्वर मारुति की वन्दना करते है। तुलसी की पार्वती उस महाश्रद्धा की और तुलसी के शकर उस महाविश्वास के प्रतीक हैं, जो उस महाचेतन परम शक्तिमान् सत्ता के प्रति समर्पित हो चुके हैं। उन्हीं के आधार पर जन-जन की आत्मा उस परमात्मा की ओर उठती चली जाती है। श्रद्धा—विश्वास के आधार पर ही सिद्धगण अन्तःस्थ-परमेश्वर के दिव्य दर्शन करते हैं। इसी प्रकार तुलसी के कवीश्वर वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान् भी विज्ञान के साकार विग्रह हैं, जिनकी दीपशिखा तुलसी के मानस मे प्रभूत प्रकाश फैलाती है।

तुलसी के कवीश्वर वाल्मीकि विशुद्ध विज्ञानरूप हैं। रामकथा महात्मा तुलसी को आदि कवि वाल्मीकि की रामायण से ही प्राप्त हुई थी। उसी बीज मे तो मानसरूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ है। तुलसी आदि कवि के ऋणी है। आभारपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए गोस्वामी तुलसीदास विरोधालंकार से अलंकृत वाणी में पुनः वन्दना करते हैं—

"बंदउँ मुनिपद कंजु रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥"

(मानस, बाल०, १४ (घ)/-)

राम की गाथा वाल्मीकि से पहले लोक मे प्रचलित थी। उसके आधार पर वाल्मीकि ने उसे रचनाबद्ध किया और राम को आदर्श मानव के रूप मे कलामयी कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया। वाल्मीकि के शिष्यों (कुशीलवों) ने यत्र-तत्र उसका गायन किया। इस तरह वह रामकथा विश्व मे फैली। बाल-काण्ड और उत्तरकाण्ड की रचना वाल्मीकि के शिष्यों द्वारा हुई। वाल्मीकि

कालिदास और तुलसी अपनी-अपनी कविताओं मे दीपशिखा कवि सिद्ध होते है। दीपशिखा के बिम्ब तीनो कवियो मे पाये जाते है। इस दृष्टि से भी तुलसी मूलतः वाल्मीकि के अनुगामी है।

शरीर और आत्मा से ऊपर परमात्मा है। मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ—इसका बोध ज्ञान है। मै शरीर नही हूँ, आत्मा हूँ—इसकी अनुभूति विज्ञान है। विज्ञानमय कोश मे विचरण करनेवाला विज्ञानी द्वैत की आनन्दानुभूति का अमृतरस पीता है। अद्वैत की स्थिति उसे प्रिय नही। भक्ति का लोक है भी द्वैत का लोक। उस द्वैत के लोक का आलोक ही भक्तो के नेत्रों को भाता है। भक्त भगवान् के लोक तथा सान्निध्य मे रहने मे, आभूषण बनने मे अथवा भगवान् का रूप ग्रहण करने मे ही परमानद प्राप्त करना चाहते है।

महर्षि एव महामुनि वाल्मीकि साधना की श्रेणियो पर चढ चुके थे। अन्नमय कोश से प्राणमय कोश, प्राणमय कोश से मनोमय कोश और मनोमय कोश से विज्ञानमय कोश की ऊँचाई पर पहुँच चुके थे। यही कोश आनन्दमय कोश का महाद्वार है। इस महाद्वार से उनकी आत्मा सच्चिदानन्द का दर्शन कर चुकी थी। उस दर्शन-लाभ से महामुनि विशुद्ध विज्ञानस्वरूप बन चुके थे।

राम-कथा की स्मृति के साथ-साथ वाल्मीकिरामायण के रचनाकार महामुनि वाल्मीकि की वह करुणा और आक्रोश भरी मुखाकृति भी तुलसी के मानस-पटल पर आ गयी होगी, जिसकी अनुष्टुप् छन्दोमयी वाणी ने क्रौञ्च को मारनेवाले निषाद को शाप दिया था कि "ओ क्रूर निषाद! निरपराध क्रौञ्च–क्रौञ्ची मिथुन में से क्रौञ्च को तूने अकारण ही मार दिया है। अत मै शाप देता हूँ कि तुझे युग–युगान्तर तक भावी जन्मो मे कभी शान्ति नही मिलेगी। यह तेरा तीर क्रौच के नही, मेरी छाती मे लगा है। क्रौची की आह-कराह ही मेरी वाणी मे परिवर्तित हो गयी है।

तुलसी के मानस-पटल पर आदि कवि की विक्षुब्ध छवि छा गयी, करुणा-कलित वाणी की गूँज से उनके मानस लोक का आकाश भी गुंजायमान हो गया, फिर कुछ क्षणोपरान्त वीणा बजाते नारद भी दृष्टिगोचर हुए और उन नारद के शब्दों मे राम का गुणानुवाद भी तुलसी की आन्तरिक श्रवणेन्द्रिय ने सुना। राम के गुण-वैभव मे वियोगिनी क्रौंची की करुणा मिल गयी। अतः आदि कवि का काव्य वैभव-वेदना का काव्य बन गया। महाकवि की आँखो ने पूरा दृश्य देखा भी न था कि वाणी फूट पडी। लव मात्र मे ही कवीश्वर

की परा वाणी पश्यन्ती और मध्यमा बनती हुई वैखरी का रूप ले गयी। महामुनि के नेत्रों की दीपशिखा रुद्र के तृतीय नेत्र की ज्वाला बन गयी। प्रज्वलितज्वालनेत्र महामनीषी महाकवि-महर्षि वाल्मीकि अपनी आत्मजा वैखरी वाणी से उस समय अद्भुत महती दिव्य परमा को प्राप्त हो रहे थे। पार्वती के जन्म ने जिस तरह पिताश्री हिमालय को शोभापुंज बना दिया था ठीक उसी प्रकार संस्कारवती आत्मजा गिरा से महामनीषी महाकवि का मुखमण्डल शोभा से अभिमंडित हो गया। उनका मुखमण्डल ज्वालायुक्त था, दीप्तिमय था। ओज और करुणा का समन्वयात्मक स्वरूप था।

नारद जी से प्रेरित महामुनि वाल्मीकि रामकथा के श्लोक बोलते चले गये। सरस्वती श्लोकों के पद बनकर अपना वैभव बिखेरने लगी। महात्मा तुलसी महामनीषी एवं आदिकवि की संस्कारवती सहजवाणी को सुनते रहे। विज्ञानरूप वाल्मीकि की जिह्वा से पावनी वैखरी वाणी भी अबाध गति से निःसृत होती रही और तुलसी अपने मन के श्रवणों से उस अमृता वाणी को सुनते रहे। तुलसी ने अनुभव किया कि उसी अमृता वाणी ने पद्मपुराणकार रविषेण को, पउमचरिउ के रचयिता स्वयंभू को, आध्यात्मरामायणकार रामशर्मन् को, तमिल रामायणकार कबन् को, असमिया रामायण के रचनाकार माधव कदली को, बंगला रामायणकर्ता कृत्तिवास को और मराठी रामायणकार एकनाथ को भी प्रेरित और प्रभावित किया था। वही आद्या अमृता काव्यवाणी आज तुलसी के मानस के लिए भी मूल प्रेरक बनी है। वह अमृता काव्यवाणी सहज थी; अतः विशुद्ध थी। उसी विशुद्ध वाणी के ज्ञाता विशुद्ध विज्ञानरूप आदि कवि वाल्मीकि को महात्मा तुलसी प्रणाम निवेदित करते हैं। अतः ऋणी तुलसी ऋषि-ऋण से उऋण होने के लिए लिखते हैं—

"विशुद्धविज्ञानं कवीश्वरं वन्दे।"

वाल्मीकि की वाणी से प्रेरणा पाकर रचे गये राम-काव्य इस जगत् में जब तक जीवित रहेंगे, तब तक निषाद की आत्मा को शान्ति न मिल सकेगी। निषाद की क्रूरता पर, तीर की जघन्यतापर शाप रोष बनकर सदा ही प्रहार करता रहेगा। वियोगिनी क्रौंची की आह पर; करुणामयी कराह पर लोक-मानस आँसू बहाता रहेगा और उन आँसुओं की धारा में युग-युगों तक जागतिक प्राणी देखते रहेंगे कि क्रूरता के तीर का रक्त तमसा के जल में बहा जा रहा है और उस क्रौंच के रक्त से बनी रक्तमयी धारा निरन्तर बहती जा रही है, बही चली जा रही है और बहती चली जाती रहेगी।

तमसा के आकुल जल की रक्तिम धारा को देखकर आकाश का हृदय भी हिलकियो से सिहर–सिहर कर रोता रहेगा, धरती काँपती रहेगी और दिग्देवताओ की आँखो से अश्रुधारा बहती रहेगी। इतना ही नही वेदनामय नील गगन के चिरयात्री सूर्य–चन्द्र ग्रहणग्रस्त मन से निसर्ग की उस शून्यता को मौन बने देखते रहेगे और साक्ष्य प्रस्तुत करते रहेगे, उस काल देवता के समक्ष कि अतीत मे करुणा पर ऐसा जघन्य–क्रूर प्रहार कभी किसी ने भी नही किया था, जैसा कि निषाद ने क्रौंच पर किया।

उस धारा की रक्तिमा को लोग देखेंगे, लगातार देखते रहेंगे और कहेंगे, विषादपूर्ण वाणी से कहेंगे, शापमयी वाणी से कहेंगे—"ओ क्रूर निषाद ! तेरी पापमयी जीवात्मा को शान्ति न मिलेगी। युग–युगो तक शान्ति न मिलेगी। तूने निरपराध क्रौंच का वध किया है और क्रौंची का हृदय विदीर्ण किया है। आदि कवि का काव्य अब हे निषाद ! तेरे क्रूर इतिहास को विनष्ट करके ही शान्ति की साँस लेगा। ओ क्रूर निषाद ! तेरे तीर से क्रौंच ही मृत नही हुआ, महामुनि वाल्मीकि का हृदय भी घायल हो गया है। उनकी छाती का यह घाव कभी भरेगा नहीं। क्योकि यह घाव दुहरा घाव है। महामुनि के शोक भाव के आलम्बन युगपत् दो बने हैं। मृत नर क्रौंच को देखकर महर्षि का हृदय पहले घायल हो ही चुका था, फिर वियोगिनी क्रौंची की तडपन, विकलता, बिलबिलाती चीत्कार और करुणाकलित पुकार ने इस घाव मे फिर दूसरा घाव कर दिया। क्रौंची की अन्तर्वर्तिनी वेदना के भावानुप्रवेशी आदि–कवि की करुणार्द्रवाणी युग-युगान्तर के उपरान्त भी अमर रहेगी और शाप देती रहेगी। ज्ञानमूर्ति महर्षि की ज्ञानवती जागरिता वैखरी के पीछे वेद ऋचाएँ स्वतः दौडती हुई आ रही है। अत यह वेद-ऋचानुगता वाक् अमोघ है, अजस्रप्रवाहिनी है, अमिटप्रभाविनी है।"

यह संपूर्ण दृश्य क्रमश तुलसी के मानस पटल पर आता रहा होगा। अन' तुलसी ने प्रणम्य महामुनि आदि कवि के पूज्य चरणो मे प्रणाम निवेदन करते हुए प्रतिज्ञा की होगी कि रविषेण, स्वयभू, कम्बन्, रामशर्मन् माधव कदली, कृत्तिवास और एकनाथ की भाँति मैं भी ऋषिऋण से उऋण होकर रहूँगा। इस ऋण से उऋण होने के लिए तुलसी ने बार–बार यह प्रार्थना की होगी कि—

"हे विशुद्धविज्ञान रूप महामुने ! मेरा विनत प्रणाम स्वीकार कीजिए, स्वीकार कीजिए, स्वीकार कीजिए। "**वन्दे विशुद्धविज्ञानं कवीश्वरम्**" "

"हे विशुद्धविज्ञान रूप महामुने ! मेरा विनत प्रणाम स्वीकार कीजिए, स्वीकार कीजिए, स्वीकार कीजिए "**वन्दे विशुद्धविज्ञानं कवीश्वरम्**"।"

तुलसी के मानस पटल पर जैसे ही कवीश्वर वाल्मीकि मुनि आये होंगे, वैसे ही श्रीराम भी आये होंगे। श्रीराम आये होंगे, तो कौशल्या की गोद और अयोध्यानगरी भी आयी होगी। महामुनि कवीश्वर वाल्मीकि ने ही सर्वप्रथम अयोध्यापति राघवेन्द्र की गुणगाथा गायी है। अयोध्या, श्रीराम की जन्मभूमि अयोध्या की महिमा पहले भी दिगदिगंत व्यापिनी थी। अथर्ववेद में अयोध्या को अष्टचक्रानवद्वारा देवपुरी बताया गया है—"अष्टचक्रानवद्वारा देवाना पूरयोध्या" (अर्थवेद)।

मारुतनदन कपि नहीं, कपीश्वर हैं। विज्ञानी हैं, क्योंकि वे विनीत हैं, भगवान् के सेवक हैं और उन्होंने अहकार को चटनी की तरह पीस दिया है। गीता मे ज्ञान-प्राप्ति के तीन ही साधन बताये हैं—(१) परिप्रश्न (२) प्रणिपात (३) सेवा। कपीश्वर हनुमान् तीनो साधनो के द्वारा ज्ञान की सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

कपीश्वर मारुति की प्रथम भेंट भगवान् राघवेन्द्र से तब होती है, जब सीता जी की खोज मे राघवेन्द्र लक्ष्मण के साथ ऋष्यमूक पर्वत के पास पहुँचते हैं। तब मारुतनदन जिज्ञासु रूप मे श्रद्धापूर्वक भगवान् कौशलेन्द्र से परिप्रश्न करते हैं—

"को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥"
(मानस, किष्कि०, १/७)

परिप्रश्न के उपरान्त भगवच्चरणों मे भक्तिभाव से प्रणिपात करते हैं—

"प्रभु पहिचान परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥"
(मानस, किष्कि०, २/५)

कपीश्वर मारुतनदन अपना सेवा-भाव जगत्पिता भगवान् कौशलेन्द्र के प्रति व्यक्त करते हुए कहते हैं—

"सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥"
(मानस, किष्कि०, ३/४)

कपीश्वर मारुति सदा प्रभु की सेवा मे ही रहे। सीता-खोज मे, संजीवनी लाने मे, प्रभु के साथ रावण से युद्ध करते समय—जहाँ भगवान् राम, वहीं सेवक हनुमान्।

विज्ञान की विशेषता अहंकार के नाश करने में है। कपीश्वर हनुमान् ने अहंकार को पूर्णतः नष्ट कर दिया है। वे जो कुछ करते है, उसे प्रभु की कृपा और प्रताप का फल ही मानते है।

"नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।"
(मानस, सुन्दर०, ३३/८,९)

पवनपुत्र अंजनीनन्दन के शील—विनयसम्पन्न दास्यभाव का ही परिणाम था, जो श्रीराघवेन्द्र ने प्रथम मिलन मे ही लक्ष्मण के समक्ष हनुमान् से भाव-विह्वला वाणी मे कहा था—

"सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।।"
(मानस, किष्कि०, ३/७)

कपीश्वर हनुमान् प्रत्युत्पन्न मति है। उनका विज्ञान उन्हे तुरन्त करणीय कर्म की प्रेरणा देता है। पीड़ित सुग्रीव के प्रति भगवान् की करुणा जगाने मे उनका ज्ञान विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) बनकर सिद्ध होता है। प्रभु को अनुकूल देखकर हनुमान् तुरन्त दीन-हीन सुग्रीव को प्रभु का दास घोषित कर देते हैं। फिर जगत्पति भगवान् राम और शेषावतार यती लक्ष्मण को अपनी पीठ पर बिठाकर ऋष्यमूक पर्वत पर चढते चले जाते हैं। जिसकी पीठ पर प्रभु हों, वह कठिनाइयो के पर्वत पर क्यो न चढ़ जाएगा? कपीश्वर विज्ञानी है, चढ़ाई का साधन अच्छी तरह जानते हैं। वन्दिनी सीता को दीन दुखी दशा से छुडाने के लिए कपीश्वर मारुति रामचन्द्र जी के पूछने पर सक्षेप मे ही मूल बात समय पर कह देते हैं। समय पर कितना कहना चाहिए और क्या कहना चाहिए—इसे विज्ञानी कपीश्वर अच्छी तरह जानते हैं।

"सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला।।"
(मानस, सुन्दर०, ३१/९)

विज्ञानरूप है कपीश्वर, इसलिए तुलसी ने उन्हें ज्ञानघन भी कहा है—

"प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यानघन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।।"
(मानस, बाल०, सो० १७/-)

पवनपुत्र केशरीकुमार बज्रांग हनुमान् सदा शरचापधर राम को ही हृदय मे धारण करते है। बलवीर हैं रणधीर है, विनयशील हैं और विज्ञानी हैं।

विज्ञान से युक्त बल कभी अहकार को पास नही फटकने देता। विना ज्ञान के विद्या, धन, बल आदि अहकार के भारी कारण बन जाते है। विज्ञानी कपीश्वर मे बल के साथ विनय है, शील है। भगवान् के प्रति उनकी निर्भराभक्ति है। अतः कपीश्वर का विज्ञान वन्दनीय है, कपीश्वर वदनीय है।

तुलसी कहते है—"वन्दे विशुद्धविज्ञानं कपीश्वरम्।"

इसके उपरान्त कवीश्वर और कपीश्वर के चरणो मे साथ-साथ वन्दना करते हुए तुलसी लिखते हैं—

वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ।"

(मानस बाल०, श्लोक ४)

तुलसी के कवीश्वर और कपीश्वर दोनो ही अरण्यविहारी है। एक है शब्दारण्यविहारी और दूसरे है सेवारण्यविहारी। दोनो ही ओजोमय है, विज्ञान रूप है। तुलसी को दोनो का यही रूप वन्दनीय है।

○ ○

३. दिव्य सौन्दर्य के सावधान चितेरे तुलसीदास

'दिव्य' शब्द विशेषण है। इसका अर्थ है, दैवी, स्वर्गीय या अलौकिक। स्वर्गीय पदार्थ या व्यक्ति मनोहर होने के साथ महनीय और पूज्य भी होता है। अतः दिव्य सौन्दर्य मे द्रष्टा का पूज्यभाव होना चाहिए।

आदि कवि वाल्मीकि, कविकुलगुरु कालिदास, अध्यात्मरामायणकार रामशर्मन् और गोसाईं तुलसीदास ने सीता जी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन अपने-अपने ग्रंथों मे यथावसर किया है।

मुनि वाल्मीकि के प्रश्न के उत्तररूप मे नारद जी ने सदाचार मे युक्त एक प्रिय दर्शन पुरुष को बताया कि उनका नाम श्रीरामचन्द्र है। वे संपूर्ण गुणो से सम्पन्न है और विष्णु भगवान् के समान बलवान् तथा चन्द्रमा के समान मनोहर हैं। जनकदुलारी सीता भी देवमाया की भाँति सुन्दर हैं। वे समस्त शुभ लक्षणो से विभूषित है। स्त्रियो में उत्तम हैं। चन्द्रमा की अनुगामिनी रोहिणी के समान ही सीता जी रामचन्द्र जी का अनुगमन करती है।

महाकवि कालिदास के लिए भी सीता जी रघुवंश के तिलक महापुरुष राजा रामचन्द्र जी की आदर्श पत्नी हैं। पार्वती जी भी कालिदास के लिए परम पूज्या है, क्योंकि वह जगन्माता हैं। 'रघुवंश' महाकाव्य के आदि मे ही कालिदास 'जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' लिखकर माता-पिता के रूप मे पार्वती तथा शंकर की वन्दना भी करते हैं।

अध्यात्मरामायणकार रामशर्मन् के कथनानुसार ब्रह्मरूप तथा स्वयंप्रकाश-स्वरूप श्रीरामचन्द्र सीता के पति है और तत्त्ववेत्ता है। वैदेही जनकदुलारी सीता जी उनकी योग माया है।

'रामचरितमानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही गोसाईं तुलसीदास भरत, लक्ष्मण, हनुमान् आदि की वंदना के उपरांत जगज्जननी जानकी जी के चरण-

कमलों की वन्दना इन शब्दों में करते हैं—

"जनकसुता जग जननि जानकी । अतिसय प्रिय करुनानिधान की ।
ताके जुग पद कमल मनावउँ । जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ ॥"
(मानस, बाल०, १८/७,८)

सीता जी आदि कवि वाल्मीकि के लिए भी पूज्य है । उनका सौन्दर्य महर्षि वाल्मीकि के लिए श्रद्धेय एवं वंदनीय सौंदर्य है, दिव्य सौन्दर्य है । फिर भी मुनि वाल्मीकि आत्मवान् श्रीरामचन्द्र जी के मुख से लघु भ्राता लक्ष्मण के प्रति सीता जी के सम्बन्ध में जो शब्द कहलवाते हैं, उनसे दिव्य सौन्दर्य के वर्णन में व्याघात तो उत्पन्न होता ही है, साथ में अश्लीलता की भी कुछ गन्ध आती है ।

सीता जी के चोरी चले जाने पर श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं—"लक्ष्मण ! मेरी प्रिया के दोनों गोल-गोल स्तन, जो सदा लाल चन्दन से चर्चित होने योग्य थे, निश्चय ही रक्त की कीच में सन गये होंगे ।" (वाल्मीकिरामा०, अर०, सर्ग ६३/श्लोक ८)

आदि कवि वाल्मीकि का काकरूप जयन्त सीता जी के स्तनांतर में चोंच मारता है । महामुनि वाल्मीकि लिखते हैं—'विददार स्तनान्तरे" (वाल्मी०, सुन्दर, सर्ग ३८/२२) और उसी का अनुसरण करते हुए महाकवि कालिदास लिखते हैं—"विददार स्तनौ द्विजः" (रघुवंश, सर्ग १२/२२)

महामुनि और महाकवि दोनों ही सीता जी के उरोज में चोंच के आघात का वर्णन करके अश्लीलता का सन्निपात कर देते हैं । इससे दिव्य सौन्दर्य में आघात उत्पन्न होता है । पूज्य भावना की तरंगों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है ; गंगाजल में दुर्गन्ध भरी कीचड़ के कण गिर जाते हैं ; अमृत की धारा में अश्लील दुर्गन्ध की विषबूँद मिल जाती है ।

गोसाईं तुलसीदास जगज्जननी श्रीजानकी के दिव्य सौन्दर्य में विरसता नहीं आने देते । तुलसी का काकरूप जयन्त सीता जी के चरणों में चोंच मारता है । तुलसीदास लिखते हैं—

"सीता चरन चोंच हति भागा । मूढ़ मंदमति कारन कागा ॥"
(मानस, अर०; १/७)

अध्यात्मरामायणकार श्री रामशर्मन् के राम सीतापति हैं, स्वयंप्रकाश-स्वरूप हैं । सीता जी उनकी योगमाया हैं, फिर भी अध्यात्म—— में लिखा

गया है कि "धनुष टूट जाने पर जब सीता जी वरमाला श्रीराम के गले में पहनाने के लिए मन्द-मन्द मुसकाती हुई रंगभूमि में आयी, तब वह मुक्ताहार, कर्णफूल, पायजेब आदि आभूषणों से विभूषित थी। वह ऐसी उत्तम साड़ी पहने हुई थी, जिसमें से उनके पीन पयोधर झलक रहे थे" (अध्यात्मरामा०, बाल० सर्ग ६/श्लो० ३०)

अध्यात्मरामायणकार ने जिस स्थल पर सीता जी के जिस उक्त सौन्दर्य को अश्लील-सा बना दिया है, उस स्थल पर गोसाईं तुलसीदास उस सौन्दर्य-वर्णन में हमें बहुत सावधान दृष्टिगोचर होते हैं। सीता जी वरमाला डालने को रंगभूमि में पधार रही हैं। तुलसी लिखते हैं कि सीता जी के नवल शरीर पर सुन्दर साड़ी शोभा पा रही है। तुलसी की लेखनी सीता जी के नवल शरीर पर सुन्दर साड़ी का चित्रण कर चुकी है। तत्क्षण तुलसी को यह भी ध्यान आता है कि अध्यात्मरामायण का पाठक मेरी इस पंक्ति को पढ़ेगा तो सम्भवतः मेरी भाव-पूजा को ग्रहण न करके, रामशर्मन् द्वारा चित्रित अश्लील छवि अपने मानस–पटल पर देखने लगेगा। अतः दिव्य सौन्दर्य के चित्रांकन के सावधान चितेरे गोसाईं तुलसीदास स्वयं तो सावधान हो ही जाते हैं, साथ-ही-साथ अपने पाठक के समक्ष भी दिव्य सौन्दर्य अर्थात् आराध्य सौन्दर्य चित्रित करते हैं। अपनी काव्य-पंक्ति को बिना काटे-पीटे ही सब कुछ भव्य और दिव्य चित्रित कर देते हैं। तुलसी लिखते हैं—

"सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छवि भारी।।"

(मानस, बाल०, २४८/२)

यदि कोई मनचला पाठक **"सोह नवल तनु सुंदर सारी"** को पढ़कर अपने मानस–पटल पर कुछ अश्लील चित्र बनानेवाला भी हो, तो तुरन्त **'जगतजननि'** पढ़ते ही वह उस चित्र में पूज्य भावों की रेखाओं के दर्शन करने लगेगा। मांसल शृंगार तुरन्त दिव्य श्रद्धा में, पूज्य वंदना में और विनत भव्यभावना में परिवर्तित हो जाएगा। कीचड़ की बूँद को गंगाजल में एक क्षण में ही इस तरह बदल देने की क्षमता गोसाईं तुलसीदास में ही देखी जा सकती है। दिव्य सौंदर्य को ऐसी विचित्र वैद्युतिक शैली में चित्रित करने की सामर्थ्य न आदिकवि वाल्मीकि में है और न महाकवि कालिदास में। यह भारतीय औदात्य की दिव्य क्षमता तो भारतीकण्ठ भक्तशिरोमणि महाकवि गोसाईं तुलसीदास में ही पायी जाती है।

औदात्य तथा शिवत्वमय सौन्दर्य की ऐसी सावधानी अध्यात्मरामायणकार मे नही पायी जाती। वह सीता जी के शरीर को ऐसी बारीक साडी से आच्छादित करता है, जिसमे से उरोज दृष्टिगत होते हैं—

"मुक्ताहारैः कर्णपत्रैः क्वणच्चरणनूपुरा।
दुकूलपरिसंवीता वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी॥"

(अध्यात्म०, बाल०, सर्ग, ६/श्लोक ३०)

काव्य-पठन के समय दो प्रकार की अनुभूतियाँ हो सकती हैं—(१) काव्य-गत काव्यानुभूति (२) रसिकगत रसानुभूति।

काव्यानुभूति के आश्रय और आलम्बन रसानुभूति के आश्रय और आलम्बन मे भिन्न होते है। रसानुभूति पाठक या द्रष्टा मे हुआ करती है। जब स्रष्टा काव्यकार कोई वर्णन अपनी ओर से करता है, तब वह काव्यकार आश्रय और वर्णित दृश्य या व्यक्ति (समष्टिरूप मे) आलम्बन होता है। पाठक उस काव्यकार से तादात्म्य स्थापित करते हुए उसी को अपना आलम्बन मानता है, जो आलम्बन कि काव्यकार का होता है। अर्थात् पाठक काव्यकार से तादात्म्य स्थापित करता है। रसानुभूति के क्षणो में पाठक के मन की स्थिति काव्यकार के मन की भावना के अनुसार ही होती है। तब वह काव्य-कार स्वयं भी ऐसा ही चाहता है। लोकहृदय की पहचानवाला काव्यकार ही पाठक को अपनी भावना मे डुबा सकता है।

'मानस' मे स्वयं तुलसीदास ने सीता जी के प्रति जो भाव व्यक्त किये है, वे पूजा के भाव हैं। उनमे से सीता जी का पूत-पावन सौन्दर्य झाँकता है। 'मानस' मे जहाँ श्रीराम का कथन है सीता जी के सम्बन्ध में, वहाँ श्रीराम आश्रय और सीता जी आलम्बन हैं। उसे काव्यगत काव्यानुभूति समझना चाहिए। पुष्पवाटिका में राम लक्ष्मण से जो कुछ कहते हैं या सीतापहरण के बाद विरही राम जो कुछ सीता के अगों के विषय मे कहते हुए विलाप-प्रलाप करते हैं, उससे तुलसी का कोई सीधा सम्बन्ध नही है। तुलसी अपने पाठक की रसानुभूति के लिए जिस भक्ति भाव की धारा प्रवाहित करना चाहते है, इसका मुख्य मंतव्य तो उन कथनो मे है, जिन्हे तुलसी ने स्वयं कवि के रूप में अपनी ओर से व्यक्त किया है। उन कथनो मे सर्वत्र सीता का दिव्य, भव्य और आराध्य सौंदर्य ही चित्रित हुआ है।

सीता जी के जन्म के सम्बन्ध में तुलसीदास सीता जी की मानसीसृष्टि करते हैं कि यदि छविरूपी अमृत का समुद्र हो, परमरूपमय कच्छप हो, शोभा-रूप रस्सी हो, शृ गार पर्वत हो और उस छवि के समुद्र को स्वयं कामदेव अपने करकमलो से मथे, तब जिस लक्ष्मी का जन्म होगा, वह लक्ष्मी भी सीता जी की तुलना मे सकोच के साथ ही प्रस्तुत की जा सकती है। इससे सिद्ध है कि तुलसी सौंदर्य की स्थिति द्रष्टा के मन मे मानते है। लगता है, सौन्दर्य की अनुभूति विषयिगत ही है, विषयगत नहीं। हम देखते है कि अमरीकी को लम्बे पाँववाली स्त्री प्रिय है, चीनी को छोटे पाँववाली। रूसी को भरापूरा मासल स्त्री सुन्दर लगती है। नीग्रो मोटी स्त्री पसद करता है। जापानी उस स्त्री को सुन्दर कहता है, जिसकी गर्दन का पिछला भाग सुन्दर हो।

सीता जी के चित्राकन मे गोसाई तुलसीदास आदि कवि वाल्मीकि और महाकवि कालिदास से बहुत अधिक सावधान है; जागरूक है। वाल्मीकि और कालिदास सीता जी के सौन्दर्य-वर्णन मे कुछ अश्लील से भी हो जाते हैं, लेकिन तुलसी सर्वत्र श्लील हैं।

कालिदास को तो 'कुमारसभव' की पार्वती के रूप-सौदर्य के वर्णन मे अपना होश ही नही रहता। जगन्माता पार्वती के रूप-वर्णन मे, वह भी तपस्विनी पार्वती के रूप-वर्णन में कालिदास घोर अश्लीलता की प्रस्तुति करते हैं। 'कुमारसभव' (सर्ग ५/श्लो० २४) मे कालिदास तपस्विनी पार्वती के सम्बन्ध मे लिखते है—"पार्वती के सिर पर जो वर्षा का जल पड़ता था, वह पलभर तो उनकी पलकों पर टिकता था, फिर वहाँ से ढुलक कर ओष्ठो पर आ जाता था। वहाँ से उनके कठोर स्तनों पर गिरकर बूँद-बूँद बनकर छितरा जाता था।"

इस उक्त वर्णन मे कालिदास की अश्लील भावना व्यक्त हो रही है। सुविज्ञ पाठक अच्छी तरह से निम्नाकित दोनों पंक्तियो को पढ़कर जान सकते हैं कि दिव्य सौंदर्य के चित्राकन मे कौन-सा कवि अधिक सावधान है ?

महाकवि कालिदास लिखते है—

"स्थिता. क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधरा:
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता : ।" (कुमार०,५/२४)

गोसाईं तुलसीदास लिखते हैं—

"सोह नवल तनु सुन्दर सारी ।
जगत जननि अतुलित छबि भारी ।।"
(मानस बाल० २४८/२)

अतः मुक्तकण्ठ से कहा जा सकता है कि गोसाईं तुलसीदास दिव्य सौन्दर्य के बहुत सावधान चितेरे हैं। सीता जी उनके लिए आराध्या है, पूज्या है, जगज्जननी है, परात्पर ब्रह्म की आद्या शक्ति है।

सौंदर्य मे तुलसी की सीता जी, ब्रह्माणी, लक्ष्मी और पार्वती से भी बढ़कर हैं। सीता जी की तुलना मे कोई उपमान ठहर नही सकता। विधाता की सृष्टि के संपूर्ण उपमान सीता-सौंदर्य के लिए हेय हैं, नगण्य है। अलौकिक रूप के लिए बेचारे लौकिक उपमान व्यर्थ ही ठहरते है। सौंदर्य मे सीता जी अनन्वय अलंकार हैं। यह सब कुछ होते हुए भी उनका सौंदर्य भव्य है, दिव्य है और परम पवित्र है। वह सौंदर्य वस्तुतः वन्दनीय मातृ-सौंदर्य है।

○ ○

४. जब विनोद ने अहंकार को धराशायी किया

लकापति अहंकारी रावण का वध करके तथा विनयी विभीपण को लंकेश-पद देकर, राघवेन्द्र पुष्पक विमान में सीता जी के साथ अयोध्या आ गये। साथ मे लक्ष्मण जी, सुग्रीव, विभीषण, अगद, हनूमान् आदि भी आ गये। मुनि वशिष्ठ जी के आशीर्वाद की छाया मे रामचन्द्र जी को राजतिलक के लिए स्वर्ण-राज-सिंहासन पर बिठाया गया। वामाङ्ग मे सीता जी भी उसी सिंहासन पर बिराजमान हुई। राज-सिंहासन के दक्षिणाग तथा वामाङ्ग मे वेदपाठी ब्राह्मण वेदमंत्रो से स्वस्तिवाचन करने लगे। सिंहासन के पृष्ठ भाग मे भरत जी छत्र लेकर, लक्ष्मण जी चमर लेकर और शत्रुघ्न जी पखा लेकर खडे हो गये। सुग्रीव के हाथ मे शक्ति और विभीषण के कन्धे पर धनुष था। अगद के हाथ मे तलवार और हनूमान् जी के हाथ में गदा थी, जो सीधी दाहिने कन्धे के सहारे ऊपर को उठी हुई थी।

पहले वशिष्ठ जी ने राघवेन्द्र का मंगल तिलक करके फिर शेष वैदिक ब्राह्मणों को तिलक करने की आज्ञा दी। माताओं ने आरती उतारी। ब्राह्मणो को प्रभूत दान दिये गये। देवताओ ने आकाश मे दुदुभियाँ बजायीं। किन्नर-गधर्व नाचने-गाने लगे। तब भगवान् राघवेन्द्र का शरीर पीताम्बर मे ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो विद्युत् के प्रकाश मे आकाश की नीलिमा झाँक रही हो। राजा राम जी के सिर पर दीप्त स्वर्णमुकुट और भुजाओं में नग-जटित अंगद शोभा पा रहे हैं।

सीता जी भव्य वस्त्राभूषणो से पूरी तरह सुसज्जित हैं। अयोध्या की सौभाग्यवती नारियों ने उनके मुखमडल को चदन-कुकुम आदि की पत्रावली से अभिमडित किया है। उस शोभामय समाज का वर्णन वेद, शेष और सरस्वती करते-करते अघाते नही। वे वर्णन तो कर रहे हैं, किंतु उसका वास्तविक रसानद मौन शंकर ही प्राप्त कर रहे हैं। रसानुभूति की स्थिति मे वाणी मौन हो ही जाती है। वाणी का मौन ही रसोद्रेक का सच्चा संकेत है

भक्तों को भगवद्रस की प्राप्ति ही अभिप्रेत है। भगवान् का सान्निध्य ही भक्तों के लिए अपना निजी आनदनिकेत है।

वहां भगवान् राघवेन्द्र के राज्याभिषेक की शोभा के दिव्य दर्शन करने के लिए पार्वती के साथ शंकर ही नही आये हैं, अपितु लोपामुद्रा के साथ ऋषि अगस्त्य भी पधारे हैं।

राज्याभिषेक का मगलोत्सव सम्पन्न हुआ। सबको यथायोग्य सम्मानित किया गया। महाराजा रामचन्द्र और महारानी सीता जी ने अपने पूज्यजनों के चरणों मे प्रणाम निवेदित करके आशीर्वाद प्राप्त किया।

भरत जी ने अपने हाथों से जिन वस्त्रों को सजाया-सँवारा था, उन्हे स्वयं भरत जी ने ही सुग्रीव को पहनाया। तदुपरात लक्ष्मण जी ने लकाधिपति विभीषण को सुन्दर वस्त्र पहनाये। जाम्बवंत, नल, नील आदि को भगवान् राघवेन्द्र ने वस्त्र पहनाये, और उन्हें फिर प्रेमपूर्वक बिदा किया। सबको बिदा करके बाद में श्रीरामचंद्र जी ने बालिपुत्र अगद को बिदाई दी। कौशलेन्द्र श्री राघवेन्द्र ने कपीश्वर मारुतनंदन को बिदा नही किया। अयोध्याधिपति रामचद्र जी हनुमान् जी के इतने ऋणी थे कि उन्हें अपने पास रखकर ही उनके ऋण से वे किसी तरह उऋण होना चाहते थे।

रामचन्द्र जी, राजाराम, कौशलपति राम, प्रजानुरंजक राम, न्यायी-सुख-दायी राम, जन-जन के हितकारी राम और सबके हृदयविहारी राम के रूप में अयोध्या की प्रजा में प्रसिद्ध हो गये। राम के राज्य में न कोई दरिद्र रहा, न दीन रहा और न दुखी रहा। न कोई अबुध रहा और न कोई लक्षणहीन रहा। सभी नर-नारी चतुर थे, गुणवान् थे, निर्दंभ थे और धर्मरत थे।

महारानी सीता जी गृहलक्ष्मी के रूप में सभी सासुओं की सेवा करने लगीं। प्राणपति रामचन्द्र जी के सुख के लिए प्रतिक्षण वे सेवा-शुश्रूषा मे निरत रहती थीं। सेवकों तथा सेविकाओं के सुख-दुख का ध्यान सीता जी को सदा रहता था। उन सबको भोजन कराके ही वे भोजन करती थीं।

सभी आगन्तुक बिदा हो गये। शंकर-पार्वती भी चले गये थे। लोपामुद्रा को कुछ दिन अयोध्या मे रहने के लिए छोड़कर अगस्त्य जी भी बिदाई लेकर प्रस्थान कर चुके थे।

एक दिन गृहकार्य से निवृत्त होकर सीता जी अपने विश्रामकक्ष में बैठी

हुई थी। कुछ समय बाद वहाँ अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा भी पहुँच गयी। दोनों की बात-चीत होने लगी।

महाराजा रामचन्द्र जी तथा महारानी सीता जी के राज्याभिषेक के वैभवपूर्ण दृश्य को देखकर लोपामुद्रा की हृदय-भूमि मे ईर्ष्या का अंकुर उगकर पल्लवित हो गया था। अह के जल से सिंचित होकर उस अकुर ने एक प्रवृद्ध पौधे का रूप धारण कर लिया था।

लोपमुद्रा कहने लगी—"सीता! मैं गौरवशाली मित्रावरुण की पुत्रवधू और महर्षि अगस्त्य की पत्नी हूँ। तुम अपने पति रामचन्द्र जी के साथ तपस्विनी वेश में वन-वन मारी-मारी फिरी। मैंने अपने पतिदेव के साथ वन मे भी राज-प्रासाद का और महारानी का सुख भोगा। तुम्हारे पिता मिथिलेश जनक तुम्हारे दुखी जीवन की याद करके निरन्तर २६ वर्ष तक दुखी बने रहे; लेकिन मेरे पिता विदर्भ नरेश ऋषि अगस्त्य के साथ मे मेरे सुखी जीवन की अनुभूति से आजीवन आनन्दमग्न रहे। मेरे पतिदेव ने 'अगस्त्य' की उपाधि तब प्राप्त की थी, जब उन्होंने अपनी दक्षिण-यात्रा मे विन्ध्यपर्वत ऊपर बढ़ने से रोक दिया था और अपना 'अगस्त्य' (अग+स्त्यै+क=पर्वत को रोकनेवाला) नाम सार्थक किया था। मेरे पतिदेव की शक्ति और सामर्थ्य को इन्द्राणी अच्छी तरह जानती है। राजा नहुष के पतन की कहानी मे मेरे पतिदेव की शाप-शक्ति निहित है। तुम्हारे पति रामचन्द्र मेरे पतिदेव अगस्त्य मुनि के आगे कुछ भी नही है; नगण्य हैं; नास्ति है। तुम्हें मालूम ही है कि तुम्हारे पति मे इतनी भी सामर्थ्य नही निकली कि स्वय समुद्र को पार कर सकें। वानरों की सहायता से बनाये गये समुद्र-सेतु पर ही होकर वे लका को गये। मेरे पतिदेव ने तो सपूर्ण समुद्र को एक घूंट मे ही पी लिया था। इतना ही नही, तुम सीता हो अर्थात् लोहे के फाले की नोक की रगड से बनी हुई खेत की एक रेखा हो। तुम ऐसे अकाल-काल मे जन्मी कि तुम्हारे जन्म के समय धरती की छाती चीरी गई। मेरा नाम लोपामुद्रा है। मेरे जन्म ने मेरे पिता को महान् प्रमोद प्रदान किया था। मेरे जन्म ने अन्य आमोद-प्रमोदों को विलुप्त कर दिया था; इसीलिए मै 'लोपामुद्रा' कहलायी।

लोपमुद्रा अहंकार की प्रत्यचा पर से तीक्ष्ण बाण छोड़ती रही; शीलवती

सीता जी विनम्र भाव से उन्हे सहती रहीं। अत मे सीता जी ने अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा से विनोदमय निवेदन किया, "बहिन जी ! मेरे पतिदेव ने वानरो को गौरव प्रदान करने के लिए ही समुद्र का पुल उनके हाथो बँधवाया था। दूसरे मेरे पवित्र-पावन पतिदेव उस समुद्र के पानी को अपने पाँवो से भी नही छूना चाहते थे, क्योकि वह तुम्हारे पति का मूत्र था।"

बस यही अहकार को शील का उत्तर था। इस प्रसग का उल्लेख गिरधरदासकृत गुजराती-रामायण मे मिलता है।

○ ○

८. दशरथ की तीन रानियाँ : मँझली कौन ?

'श्री रामचरितमानस' मे स्पष्ट उल्लेख नही मिलता कि राजा दशरथ की तीन रानियों—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी—मे कौन बडी, कौन छोटी और कौन मँझली है ? 'मानस' मे यह भी उल्लेख नही मिलता कि सुमित्रा के दो पुत्र थे—लक्ष्मण और शत्रुघ्न या एक मात्र पुत्र लक्ष्मण ही थे । कुछ अधीती विद्वान् ऐसा भी मानते है कि सुमित्रा के एकमात्र पुत्र लक्ष्मण ही था, इसीलिए तुलसी ने 'मानस' के लंकाकाण्ड में श्रीरामचन्द्र जी के शब्दों मे कहा है—

"निज जननी के एक कुमारा ।।" (लंका०, ६१/१४)

भारतीय भाषाओं के साहित्य मे राम-कथा और राम-जीवन से संबद्ध प्रथम ग्रंथ वाल्मीकिरामायण है । इसमे राजा दशरथ की तीन रानियाँ प्रमुख मानी गयी है । इनमें किसका क्या दर्जा है, इसके विषय मे वाल्मीकिरामायण मे उल्लेख मिलता है । सम्पूर्ण वाल्मीकिरामायण मे निर्विवाद रूप से यह पाया जाता है कि राजा दशरथ की बडी रानी कौशल्या है । इसके बाद कैकेयी और सुमित्रा का दर्जा क्या है ?—इसके सम्बन्ध में वाल्मीकिरामायण मे अलग-अलग उल्लेख मिलता है ।

वाल्मीकि के भरत के कथनों के अनुसार कौशल्या बडी माता, सुमित्रा मँझली माता और कैकेयी छोटी माता है ।

वाल्मीकिरामायण मे जब दूत अयोध्या से केकय प्रदेश पहुँचकर भरत जी को मुनि वशिष्ठ जी का आदेश सुनाते है, तब भरत जी दूतों से अपनी माताओं का कुशल-क्षेम पूछते हैं ।

कुशल-क्षेम पूछते समय भरत जी कहते हैं कि मेरी बडी माता **कौशल्या** **मँझली माता सुमित्रा** और छोटी माता **कैकेयी** कुशलपूर्वक हैं ? सुमित्रा के

विषय में पूछते हुए भरत कहते है—

"कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा॥"
(वाल्मी०, अयो०, ७०/९)

उसी समय भरत जी के कुशल-प्रश्न से यह भी प्रकट हो जाता है कि कौशल्या राम की जननी, सुमित्रा लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न की जननी और कैकेयी भरत की जननी है।

श्रीराम से चित्रकूट पर मिलने के लिए भरत आ रहे हैं। यात्रा-मार्ग मे भरद्वाज जी के आश्रम पर पहुँचते है। तब भरत जी अपनी तीनों माताओं का परिचय भरद्वाज जी को देते हैं कि श्री कौशल्या जी मेरी बड़ी माता, श्री सुमित्रा जी मेरी मँझली माता और ये कैकेयी जी मेरी माता है, जो इनमे सबसे छोटी हैं। (वाल्मी०, अयो०, ९२/२०-२२)

पंचवटी मे सीता जी के चोरी चले जाने पर राघवेन्द्र बड़े दुखी हैं। वह लक्ष्मण से कहते हैं—"लक्ष्मण ! अब मेरी मँझली माता कैकेयी के मन के चीते हो गये। वह अब बहुत प्रसन्न होगी—"

"अद्येदानीं सकामा सा या माता मध्यमा मम।"
(वाल्मी०, अर०, २/२०)

जब लक्ष्मण पंचवटी मे कैकेयी के प्रति निन्दात्मक वचन बोल रहे थे, तब श्रीराम ने लक्ष्मण को बरजते हुए कहा, 'हे तात ! तुम्हें मँझली माता कैकेयी की कभी निन्दा नही करनी चाहिए—

"न ते ऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।"
(वाल्मी०, अर०, १६/३७)

राम के इन उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि ने राम के शब्दो मे कैकेयी को मँझली बताया है; जब कि भरत के शब्दो मे मँझली माता सुमित्रा ठहरती है।

अतः वाल्मीकिरामायण के आधार पर पहले तो भरत के कथन से सुमित्रा मँझली रानी ठहरती है, फिर राम के कथन से कैकेयी मँझली ठहरती है।

कहा नही जा सकता कि एक ग्रंथ में यह वदतोव्याघात दोष किस प्रकार

उत्पन्न हुआ ? ऐसी स्थिति मे मूल रचनाकार, संपादक या प्रक्षेप-कर्ता में से किसे दोषी माना जाना चाहिए ?—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

कविकुलगुरु महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के दशम सर्ग के पचपनवें श्लोक में दशरथ–पत्नियों का जो क्रम दिया है, उसमे कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा को ही क्रमशः लिखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की दृष्टि मे भी कैकेयी मध्यमा रानी हैं। सुमित्रा सबसे छोटी है।

जैनाचार्य रविषेण के पद्मचरित (पद्मपुराण) मे भरत की माता को तीसरी रानी बताया गया है, जिसे रविषेण केकया नाम देते हैं। आचार्य रविषेण के अनुसार सुमित्रा दूसरी रानी है। रविषेण ने सुमित्रा को कैकेयी नाम से अभिहित किया है। पद्मपुराण ईसवी सन् के अनुसार पाँचवीं शती के बाद की रचना है।

अध्यात्मरामायण के रचियता रामशर्मन् (अध्यात्मरामा०, बाल०, सर्ग ३/६–११) के वर्णन से ऐसा संकेत मिलता है कि कौशल्या बडी रानी और कैकेयी दूसरी रानी और सुमित्रा तीसरी रानी है। अध्यात्मरामायण (युद्ध काण्ड, सर्ग १४/६१–६२) मे कहा गया है कि रामचन्द्र जी ने लका से अयो-ध्या मे आकर पहले अपनी माताओ को अभिवादन किया। रामचन्द्र जी ने पहले कौशल्या माता के, फिर कैकेयी के और तदुपरान्त सुमित्रा के चरणों में प्रणाम किया। इससे भी प्रकट होता है कि कौशल्या बडी; कैकेयी मँझली और सुमित्रा छोटी रानी है। परिवार की आचार-सहिता के अनुसार बडो को प्रणाम पहले निवेदित किया जाता है।

आदि कवि वाल्मीकि की वाल्मीकिरामायण में कैकेयी पहले दो स्थलों पर छोटी बतायी है और दूसरे दो स्थलों पर मँझली बतायी है। महाकवि कालि-दास के अनुसार कैकेयी मँझली ठहरती है। जैनाचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण के अनुसार भरत की माता छोटी रानी और लक्ष्मण की माता मँझली रानी सिद्ध होती है। अध्यात्मरामायणकार रामशर्मन् के अनुसार कैकेयी मँझली रानी हैं।

प्रसिद्ध एवं प्रथम नाटककार भास का काल ई० पू० चतुर्थ शती माना गया है। कालिदासकृत 'रघुवंश' ई० पू० प्रथम शती की रचना है। 'प्रतिमा' नाटक में कैकेयी को राजा दशरथ की कनिष्ठा रानी माना गया है। कैकेयी (राजा अश्वपति की पुत्री) का विवाह उसके पिता केकय नरेश अश्वपति ने

दशरथ के साथ इसी शर्त पर किया था कि अयोध्या की गद्दी पर दशरथ द्वारा कैकेयी का पुत्र ही बिठाया जाए। दशरथ ने अश्वपति की यह शर्त स्वीकारी थी। 'प्रतिमा' नाटक मे यह उल्लेख है।

भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी पर अध्यात्मरामायण का पर्याप्त प्रभाव है। अतः गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस मे भी सकेत रूप मे बताया गया है कि राम की माता कौशल्या बडी रानी, भरत की माता कैकेयी मँझली रानी और लक्ष्मण की माता सुमित्रा छोटी रानी है। मानस के अनुसार राम शोभा की, भरत शील की और लक्ष्मण तेज की मूर्ति हैं। गर्भवती कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा को देखकर तुलसीदास 'मानस' मे लिखते है—

"मंदिर महँ सर्बाहि सब रानीं। सोभा सील तेज की खानीं॥"
(मानस, बाल०, १९०/७)

इस उपर्युक्त अर्धाली में शोभा, शील और तेज शब्दो का क्रमश: प्रयोग यह सिद्ध करता है कि तुलसी के मानस-पटल पर रानियो का क्रम जैसा है, उसमे कैकेयी मँझली है, जो शीलरूप भरत की माता है। शोभारूप राम की माता कौशल्या बडी रानी है और तेजरूप लक्ष्मण की माता सुमित्रा छोटी रानी है।

महात्मा तुलसी ने अपने 'मानस' में उसी कथन को सत्य माना है, जो उनके आराध्यदेव राम ने लक्ष्मण के समक्ष व्यक्त किया है; अर्थात् वाल्मीकि के राम कैकेयी को अपनी मँझली माता ही बताते हैं।

इसलिए तुलसी के मतानुसार कैकेयी राजा दशरथ की मंझली रानी, कौशल्या बड़ी रानी और सुमित्रा छोटी रानी ठहरती हैं।

तुलसी के 'रामचरितमानस' मे स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता कि लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्रा के ही पुत्र हैं। राम कौशल्यापुत्र है और भरत कैकेयीपुत्र हैं—यह तो 'मानस' से स्पष्ट है। एकनाथकृत मराठी 'भावार्थरामायण' मे तो कैकेयी के दो पुत्र बताये गये हैं—(१) भरत (२) शत्रुघ्न। एकनाथ के अनुसार कैकेयी तीसरी रानी है। एकनाथ ने भासकृत प्रतिमा नाटक के (ई० पू० ४००) के अनुसार कैकेयी को कनिष्ठ रानी माना है।

महाकवि कालिदासकृत 'रघुवंश' और रामशर्मन्कृत अध्यात्मरामायण मे भी कैकेयी के मँझली होने का सकेत मिलता है। अतः तुलसी कालिदास तथा रामशर्मन् के अनुयायी हैं।

आचार्य रविषेण और रामशर्मन् की उपर्युक्त कृतियो से यह भी सिद्ध हो जाता है कि कैकेयी बहुत रूपवती और वीरागना थी। गायनादि ललित कलाओं में प्रवीण थी; इसीलिए राजा दशरथ मँझली रानी कैकेयी पर विशेषरूप से निछावर थे, आसक्त थे। वे उसे नाराज नही देख सकते थे। 'अध्यात्मरामायण' के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि देवासुरसग्राम मे कैकेयी ने राजा दशरथ के रथ की धुरी के छेद की कील (चक्रोल) निकल जाने पर उस छेद मे अपनी उँगली लगा दी थी। इस विजयदात्री वीरता पर प्रसन्न होकर दशरथ ने कैकेयी को दो वरदान दिये थे।

○ ○

६. पूर्व जन्म की शतरूपा रानी कौशल्या

आदि कवि वाल्मीकि के कथनानुसार कौशल्या आयतलोचना (वाल्मीकि०, अयो०, २५/२६) है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश (सर्ग १०/६६) में कौशल्या को परम गौरवर्णा बताया है। कालिदास लिखते हैं कि प्रसव से दुबली माता कौशल्या नन्हे-से बालक राम को लिये हुए पलंग पर लेटी हुई है। वह ऐसी जान पड़ती है कि शरद् ऋतु में पतली धारवाली गंगा के तट पर किसी का चढ़ाया हुआ नीलकमल रखा हुआ है। कौशल्या गंगा की धारा के समान श्वेतवर्णा है।

वाल्मीकिरामायण, रघुवंश, अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस के अनुसार कौशल्या राजा दशरथ की बड़ी रानी है, राम जिसके एक मात्र पुत्र हैं।

गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस के अनुसार कौशल्या पहले जन्म में शतरूपा थी और राजा दशरथ मनु थे। मनु और शतरूपा ने सत्ताईस हजार वर्ष तपस्या करने के उपरान्त सर्वेश्वर परात्पर ब्रह्म को पुत्र रूप मे प्राप्त किया है। भक्तों के वश मे रहनेवाले भगवान् भक्तिभाव के कारण कौशल्या के समक्ष शिशुरूप में प्रकट होते हैं। तुलसी लिखते है—

"ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥"

(मानस, बाल०, १९८/-)

मनु-शतरूपा की प्रार्थना पर अखिल ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्म ने रामरूप मे सीता जी के साथ दर्शन दिये। तब शतरूपा ने परमप्रभु से याचना की कि प्रभो! आपके निज भक्त जो गति प्राप्त करते हैं, वही गति मुझे प्राप्त हो—

"सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥"
(मानस, बाल०, १५०/-)

परात्पर ब्रह्म भगवान् ने वह सब दिया, जो शतरूपा ने माँगा। साथ में यह भी कहा कि माता तुम्हारा विवेक कभी मिटेगा नहीं। ऐसी बात मनु ने नहीं माँगी थी। मनु ने तो केवल प्रभु को पुत्र रूप में चाहा था। उनकी वह इच्छा दशरथ-पुत्र बनकर पूरी कर दी गयी।

ज्ञानोन्मुखी बुद्धि की वह शक्ति, जिसकी सहायता से ग्राह्य-अग्राह्य में से ग्राह्य को चुन लिया जाता है, विवेक कहलाती है।

शतरूपा ने भगवान् से भक्ति और विवेक—दोनों के लिए याचना की है। अध्यात्मरामायण (बाल०, सर्ग ३/२८, २९) में कौशल्या ने प्रभु से प्रार्थना की है कि "हे देव ! आपकी मनोहर मूर्ति सदा मेरे हृदय में रहे और आपकी विश्व-मोहिनी माया मुझे न व्यापे। हे विश्वात्मन् ! अपने इस अलौकिक रूप का उपसंहार कीजिए और परम आनंददायक सुकोमल बालरूप धारण कीजिए जिसके अति सुखद आलिंगन और संभाषणादि से मैं अज्ञान के अंधकार को पार कर जाऊँगी।"

प्रभु ने कौशल्या की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वैसा ही किया। तुलसी लिखते हैं—

"सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥"
(मानस, बाल०, १९२/छं३)

तुलसी के कथनानुसार कौशल्या पूर्व दिशा के समान है, जिसमें रघुपति रूपी चन्द्रमा का उदय हुआ है। उस चंद्रमा की चंद्रिका ही कौशल्या की कीर्ति है, जो विश्व में छायी हुई है।

एक दिन माता कौशल्या ने शिशु राम को पालने में भी देखा और नैवेद्य का भोग लगाते हुए भी। एक साथ दो बालकों को देखकर माता घबरा गयी। भक्तवशवर्ती प्रभु ने भक्त कौशल्या को दर्शन दिये थे। माता को व्याकुल देखकर प्रभु हँस पड़े और तुरन्त माया का आवरण दूर हुआ। कौशल्या

को ज्ञान हो गया और भगवान् के रहस्य को समझ गयी; इसीलिए तो कौशल्या भक्ति और ज्ञान का समन्वयात्मक स्वरूप है।

एक दिन राजा दशरथ भोजन के लिए बैठे। भोजन की थाली सामने आ गयी। बालक राम बालकों मे खेल रहे हैं। राम को राजा दशरथ बुलाते है, किंतु वह नही आते, लेकिन जब माता कौशल्या बुलाने जाती है, और दौड़कर प्रभु को पकड़ना चाहती है, तब प्रभु माता की पकड़ में आ जाते हैं और ठुमुक-ठुमुक कर माँ के साथ चल देते हैं। धूल-धूसरित शरीरवाले बालक राम को राजा दशरथ अपनी गोद मे बिठाकर भोजन कराते है।

राजा दशरथ के बुलाने पर प्रभु नही आते। क्यो आएँगे? दशरथ राजा हैं, पिता नही। बालक राम को बैठे-बैठे बुलाते है। दशरथ अहंकार के प्रतीक हैं। भगवान् अहंकार से सदा दूर रहते है। कौशल्या रानी नही है; अपितु माता है। वात्सल्य के वशीभूत माता पुत्र के पास दौड़कर जाती है। कौशल्या भक्ति का स्वरूप है। भगवान् सदा ही भक्त की भक्ति के वश में रहे हैं; इसीलिए माता की पकड मे स्वयं आते है और साथ-साथ चल देते हैं। भगवान् भक्त को अधिक कष्ट देना भी नही चाहते। भक्त के दुःख से भगवान् को बहुत ही दुःख होता है; इसलिए प्रभु नही चाहते कि माता उन्हे पकड़ने के लिए बहुत दौडे और हाँप जाए। लगता है तुलसी की कौशल्या शरीर से भारी है, मांसल है, स्थूल है। मासल शरीर दौड़ने पर जल्दी हाँप जाता है, बहुत थक जाता है; इसीलिए बालरूप प्रभु स्वयं ही ठुमुक-ठुमुक कर धीरे-धीरे भागते हैं और फिर जल्दी पकड़ मे आ जाते हैं, फिर माँ की उँगली पकडे हुए चल देते हैं। निज भक्तों के समान ही माता कौशल्या को सुख प्रदान करने का वचन जो दे चुके हैं। शतरूपा को सुख प्रदान करने के लिए अपने दिये हुए वचनों का ध्यान प्रभु को है। वह परम अद्भुत वात्सल्य भाव का सुख भक्ति-विवेक के साथ कौशल्या को ही प्राप्त है, दशरथ को नही। दशरथ के यहाँ प्रभु पुत्र बनकर आ गये, उनके अजिर-विहारी बन गये—इतना ही राजा दशरथ को बहुत है। इतना ही तो मनु ने माँगा था। शतरूपा ने कुछ अधिक माँगा था। उसे वह अधिक प्रभु ने दिया।

माता कौशल्या ने राजा दशरथ की गोद मे प्रभु बिठा तो दिये; किन्तु वे दो-चार कौर खाकर भाग गये। वहाँ भक्ति के साथ मे प्रभु आ गये थे। अहंकार भक्ति के सहयोग से कुछ क्षणों के लिए प्रभु को पा भी ले, तो क्या? बाद में खो देता है। अहंकार प्रभु का शाश्वत सान्निध्य नही पा सकता।

'निगमनेति' कहे जानेवाले भक्तवत्सल भगवान् की बाललीला पर तुलसी मुग्ध हैं। उस अनन्त लीलाधारी की बाललीला को तुलसी इन शब्दों में शब्दायित करते है —

"निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा।।
धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए।।"

(मानस, बाल०, २०३/८, ९)

विश्वामित्र जी राजा दशरथ से अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को माँगते है। राजा भूमि, धेनु, धन खजाना आदि सर्वस्व देने के लिए तैयार हैं, किन्तु मोह के वशीभूत होने के कारण राम को देने से मना कर देते हैं; फिर वशिष्ठ के समझाने पर जैसे-तैसे तैयार होते है।

राजा दशरथ जहाँ मोहरूप हैं, वहाँ कौशल्या ज्ञानरूप हैं। उसकी बुद्धि उसका विवेक और विवेकसम्मत करणीय कर्म पूरी तरह से जागरूक है। राम माता कौशल्या से विदा लेने जाते है। चरणों मे प्रणाम करते हैं। माता कौशल्या मन ही मन प्रसन्न है कि उसका बेटा मुनियज्ञ की रक्षा में जा रहा है। जीवन के ऐसे घटना–स्थलों पर सधे हुए रहने के लिए ही तो कौशल्या ने अपने पूर्व जन्म में भगवान् से भक्ति के साथ विवेक का वरदान माँगा था। कौशल्या के विवेक ने ऐसे समय में मोह को पास तक नहीं फटकने दिया। पुत्र की विदा के समय माता कौशल्या को लेशमात्र भी चिन्ता नही है।

राम के वन जाते समय भी कौशल्या अपने करणीय कर्म के प्रति पूरी जागरूक है। बुद्धि के क्षेत्र में विचरण करनेवाला ज्ञानप्रसूत विवेक कौशल्या को सावधान रख रहा है। कौशल्या का विवेक कहता है कि "हे कौशल्ये! यदि तू राम को वन जाने से रोकेगी, तो धर्म नष्ट होगा और भाइयो में विरोध उत्पन्न हो जाएगा।" पिता की आज्ञा को तथा माता कैकेयी की इच्छा को सर्वोपरि मानते हुए माता कौशल्या सहर्ष राम को वन जाने की अनुमति दे देती है—

"जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।"

(मानस, अयो०, ५६/२)

यद्यपि कैकेयी राजा दशरथ की मँझली रानी है, कौशल्या बड़ी है, फिर भी कौशल्या कैकेयी को पूरा सम्मान देती है। राम के मन मे कैकेयी के प्रति

उतनी ही श्रद्धा रहे, जितनी कि कौशल्या के प्रति है, इसका ध्यान कौशल्या को सदा रहता है।

जो दशरथ राम के वनवास की बात ही सुनकर कण्ठगतप्राणस्थिति में हो जाते हैं, उन्हीं की बड़ी रानी कौशल्या अपने एकमात्र पुत्र राम से वनवास की बात सुनकर कहती है—

"तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥"
(मानस, अयो०, ५५/८)

राजा दशरथ राम के वनवास की माँग पर कैकेयी के समक्ष महादीन, झूठे और मोहग्रस्त सिद्ध होते हैं। दो के स्थान पर चार वरदान देने की घोषणा करनेवाला तथा प्राण देकर भी वचनों की रक्षा की डींग मारनेवाला राजा दशरथ अपने मुख से राम को वन जाने का आदेश न दे सका। एक प्रकार से मोहासक्त दशरथ अपने वचनों का पालन सच्चे अर्थों में नहीं कर पाते।

दशरथ के वात्सल्य प्रेम को भले ही मोह कह दिया जाए, किन्तु परमप्रिय पुत्र के विरह में दशरथ का प्राण-त्याग प्रेम की पराकाष्ठा ही मानी जाएगी। राम के प्रति दशरथ के प्रगाढ़ वात्सल्य की प्रशंसा यशोदा ने भी की थी और कृष्ण को मथुरा में छोड़कर अकेले ब्रज को वापस आनेवाले नंद से बहुत-कुछ कहा था, उन्हें निष्ठुर बताते हुए—

"नंद ब्रज लीजै ठोकि बजाइ।
नैननि पंथ कहौ क्यों सूझ्यौ उलटि दियौ जब पाई।
रघुपति दसरथ कथा सुनी ही अरु मरते गुन गाइ॥"
(सूरसागर, स्कंध १०/३१६८)

माया ईश्वर की दासी है। भगवान् के भक्त पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। मोह माया का सेनापति है। काम, क्रोध, लोभ आदि अन्य सैनिक हैं। दशरथ भक्त नहीं है, इसलिए मोह के वशीभूत हो गये हैं। कौशल्या भगवद्भक्त है। उस पर मोह का वश नहीं चला। मोहासक्त राजा दशरथ प्राणप्यारी कैकेयी के लिए अन्त में दबे शब्दों में अशोभन सम्बोधन भी करते हैं। राजा दशरथ कैकेयी से कहते हैं—"अरे अभागिनी! तू अन्त में पछताएगी; क्योंकि तांत के लिए तू गाय की हत्या कर रही है।"—दशरथ के इस क्रोधावेशमय कथन से स्पष्ट प्रकट होता है कि दशरथ राम को वनवास देना नहीं चाहते। उनसे जो कुछ हो रहा है, विवशता में हो रहा है।

दशरथ के इस स्वरूप के समानांतर कौशल्या का व्यक्तित्व बड़ा संयत और विवेकसम्मत है। कौशल्या के माथे पर कैकेयी की क्रियाओं के विषय में कभी कोई वक्र रेखा नहीं खिंची। कौशल्या ने कभी कैकेयी के लिए कोई अपशब्द नहीं कहा। कौशल्या जानती है कि कैकेयी अपने दो वरदानों की माँग के अनुसार जो कुछ चाहती है, वह ठीक है। राम के वन चले जाने पर और भरत के अयोध्या आने पर भी कौशल्या ने कैकेयी के विषय में भरत से कोई घटिया बात नहीं कही। भले ही वाल्मीकि की कौशल्या कैकेयी को क्रूरकार्या (वाल्मीकि० अयो० ७५/६) और क्रूरदर्शिनी (वाल्मीकि, अयो०, सर्ग ७५/१२) कह गयी है; लेकिन तुलसी की कौशल्या कैकेयी के प्रति सदा शुभभाषिणी ही रही है। राम-जननी कौशल्या के मन में कैकेयी के प्रति कभी कोई गाँस नहीं देखी गयी।

मामा के यहाँ से आये अधीर भरत को माता कौशल्या समझाती हैं। कौशल्या को अपने बेटे की चिंता नहीं है, चिंता भरत की वेदना और अधीरता के प्रति है। माता कौशल्या भरत से कहती है—

"धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहित बूड़िहि सबु परिवारू॥"

(मानस, अयो०, १५४/७)

चित्रकूट के मार्ग में भरत अयोध्या के समाजसहित राम-मिलन के लिए पैदल जा रहे हैं। कोमल कुमार भरत पसीनों से तर-बतर हैं। पैरों में छाले पड़ गये हैं। भरत की उस दशा से माता कौशल्या अधीर है। बहुत व्याकुल हैं। बेटे भरत से माता कौशल्या रथ पर सवार होने के लिए आग्रह करती हैं। दशरथ के लिए राम और भरत चाहे दो आँखें न भी हों; लेकिन माता कौशल्या के लिए राम और भरत उसकी दो आँखें सदा रहे। चाहे राम राजा हों, चाहे भरत, कौशल्या के लिए एक ही बात थी।

लंका से अयोध्या आये हुए सीता और लक्ष्मण सहित राम को देखकर कौशल्या को रोमांच हो जाता है और परमानंद में डूब जाती हैं। इस आनन्द के मूल में सुमित्रा और सुमित्रानंदन प्रमुख तत्त्व हैं। माता कौशल्या सुमित्रा और सुमित्रानंदन लक्ष्मण के बलिदानों को अच्छी तरह समझती है। कौशल्या अपना पुत्र राम को ही नहीं समझती; लक्ष्मण को भी वैसा ही मानती हैं। तभी तो मन में प्रभु को लाख-लाख धन्यवाद देती हुई कहती है—

"अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥"
(मानस, उत्तर०, ७/८)

कौशल्या के लिए सीता पुत्रवधू नहीं, पुत्री है। महारानी कौशल्या के इस परम वात्सल्य भाव का उद्घाटन भवभूति ने उत्तर रामचरित नाटक मे किया है। निर्दोष तथा निरपराध सीता को वनवास दिये जाने पर माता कौशल्या ने पुत्र राम का मुँह देखना बन्द कर दिया। सीता-वनवास के बाद राजा दशरथ की तीनों रानियों ने अयोध्या नगरी में निवास करना त्याग दिया था।

ऐसी विशाल हृदया, भक्ति-ज्ञान स्वरूपा माता कौशल्या का चरित किसके मन में औदात्य की लहरें न लहराएगा।

○ ○

७. देवताओं के स्वार्थपाश में बँधी कैकेयी

'मानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ में गोसाई तुलसीदास श्रीराघवेन्द्र को चन्द्रमा मानते हुए कौशल्या को प्राची दिशा के रूप मे प्रणाम करते हैं। उसी समय तुलसीदास जी लिखते हैं कि मै राजा दशरथ और उनकी सब रानियो को पुण्य और कल्याण की सुन्दर मूर्ति मानकर मन, वचन और कर्म से प्रणाम करता हूँ (मानस, बाल०, १६/४-६)। तुलसी ने उसी स्थल पर सब रानियों को सुकृत तथा सुमगल की मूर्ति माना है। निश्चित रूपेण उन रानियों में एक कैकेयी भी है और तुलसी की मानस-भूमि मे वह सुमगल की मूर्ति है।

जब चारो भाई राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न अपनी-अपनी पत्नियो के साथ अयोध्या के रनिवास मे आ जाते है, तब सभी सासुएँ पुत्रवधुओ को गोद मे बिठाती हैं और प्यार करते हुए हर्षानन्द के सागर में स्नान करती हैं। उस आनन्द के सागर मे कैकेयी उतनी ही नहायी है, जितनी कि कौशल्या और सुमित्रा।

तुलसी लिखते है कि सासुएँ अपनी पुत्रवधुओ को लेकर रात को ऐसे सोयीं, मानो सर्पों ने अपने सिर की मणियो को हृदय मे छिपा लिया हो। निश्चित ही तब कैकेयी सीता को ही लेकर सोई होगी। कैकेयी की हार्दिक कामना थी कि आगे जन्म मे विधाता मुझे पुत्र दे, तो राम और पुत्रवधू दे, तो सीता।

"जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पुतोहू॥"

(मानस, अयो०, १५/७)

इस भावना को कैकेयी ने मंथरा के समक्ष व्यक्त भी किया है और यह भी कहा है कि यदि वास्तव मे कल राम का राजतिलक है, तो हे मंथरा! मैं तुझे

मनोवाञ्छित वर दूँगी। मैंने यह परीक्षा करके देख लिया है कि राम मुझसे सर्वाधिक स्नेह करता है। राम का जितना श्रद्धामय प्रेम मेरे प्रति है, उतना न कौशल्या के प्रति है और न सुमित्रा के प्रति।

कैकेयी राम से इतना प्रेम करती थी कि उसने राजा दशरथ से स्वयं ही प्रस्ताव किया था कि भरत को राजगद्दी दी जानेवाली शर्त को मैं वापस लेती हूँ और चाहती हूँ कि राम ही अयोध्या की गद्दी पर बैठे। इतनी शुद्ध निश्छल वात्सल्यमयी भावना होने पर भी 'कल राम का राज्याभिषेक होगा'—यह समाचार कैकेयी के पास जब न पहुँच पाया, तब कैकेयी के मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे। इन संकल्प-विकल्पों को दृढ़ता प्रदान की, मथरा के कथनों ने। कैकेयी का राम के प्रति कितना प्रेम था, इसका पता निम्नांकित कथनों से लग जाता है। कैकेयी मथरा से कहती है—

"राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मनभावत आली।।"

(मानस, अयो०, १५/८)

राजा दशरथ कैकेयी से कहते हैं—

"भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा।।"

(मानस, अयो०, २७/२)

कैकेयी का वात्सल्यमय स्नेह राम के प्रति सच्चा है। इसकी सचाई राजा दशरथ के उन शब्दों से भी प्रकट हो जाती है, जब वह कैकेयी से कहते हैं—"रानी! राम के श्रद्धामय प्रेम की तो तुम भी मुझसे प्रशंसा किया करती थी।"

तुलसी अपने 'मानस' में कौशल्या को शोभा की, कैकेयी को शील की और सुमित्रा को तेज की खान बताते हैं। शील के साक्षात् जीवंत विग्रह भरत की माता को शील की खान बताना उचित एवं उपयुक्त भी है। राम भी कैकेयी के शील से प्रभावित हुए होंगे। तभी तो वे सभी माताओं में कैकेयी को सर्वाधिक स्नेह करते थे। राम के भी शील-सौन्दर्य ने कैकेयी के मन को मोह लिया होगा। तब राम की स्नेहमयी श्रद्धा ही बोली होगी, जब वन जाने का संकेत मिलने पर माता कैकेयी से विनम्रतापूर्वक उन्होंने कहा था—

"सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।।"

(मानस, अयो०, ४१/७)

माता कौशल्या राम से कहती हैं कि माता को बड़ा मानकर तुम वन को मत जाओ। पिता ने ही तो तुम्हें वन जाने का आदेश दिया है, माता ने नहीं। इस पर राम कौशल्या से कहते हैं कि यदि माता और पिता दोनों ने आज्ञा दी हो, तो क्या करना चाहिए ? तब तो कौशल्या निरुत्तर हो गयी और कहने लगी—

"जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥"

(मानस, अयो०, ५६/२)

कैकेयी रघुकुल की मर्यादाओं तथा कर्त्तव्यों की आचार-संहिताओं से पूरी तरह अवगत है। उनके करने-कराने में भी वह पूर्णतया जागरूक है। सूर्यवंश में बड़े भाई को राजगद्दी दी जाती है, छोटे भाई उसके सेवक के रूप में रहते हैं—सूर्यवंश की इस रीति का भी कैकेयी समर्थन करती है—

"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥"

(मानस, अयो०, १५/३)

कैकेयी रनिवास की रानी ही नहीं, रणक्षेत्र की तेजस्विनी क्षत्रियाणी भी है। सच्ची वीरांगना है। इन्द्र की ओर से देवासुर-संग्राम में युद्ध के लिए जानेवाले राजा दशरथ के साथ कैकेयी युद्ध में भी जाती है। राजा दशरथ के रथ की धुरी में से चकील के निकल जाने पर वह तुरन्त धुरी के छेद में अपनी उँगली दे देती है और राजा दशरथ को युद्ध में विजयी बनाती है।

जहाँ कैकेयी परम सुन्दरी और कुसुमादपि कोमल है, वहाँ वज्रादपि कठोर भी है। इसी कारण राजा दशरथ को कैकेयी सर्वाधिक प्रिय है। राजा दशरथ राज-दर्बार से आने के बाद प्रतिदिन संध्या समय पहले रानी कैकेयी के भवन में ही जाया करते हैं। यह बात सारी अयोध्या को मालूम है। राम, लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न भी इस तथ्य से अवगत हैं। भरत जी जब अपनी ननिहाल से अयोध्या आये हैं, तब सीधे अपनी माता कैकेयी के भवन में ही पहले आते हैं। कारण स्पष्ट है, भरत जी सीधे पिता दशरथ जी के पास जाना चाहते थे। संध्या का समय था। अतः भरत जानते थे कि पिता जी माता कैकेयी के भवन में होंगे; इसलिए भरत जी सीधे माता कैकेयी के भवन में ही गये, अन्यत्र नहीं।

कुलपुरोहित महर्षि वशिष्ठ ने राम के राज्याभिषेक की लग्न बतायी है,

कि "राजन् ! वही मुहूर्त शुभ है, जब श्रीराम सिंहासन पर बैठ जाएं, अर्थात् जब उन्हें युवराज पद दे दिया जाए।" साराश यह कि वशिष्ठ जी ने निश्चित लग्न नहीं बतायी। हाट, बाट, गली, अथाई आदि में सर्वत्र यही चर्चा है कि कल रामचन्द्र जी राज-गद्दी पर बैठेंगे, सारी अयोध्या के मन की अभिलाषा पूरी होगी। सारी अयोध्या को प्रसन्नता है, किंतु कुचाली देवता उस रंग में भंग डालना चाहते हैं। अवध का बधावा देवताओं को उसी प्रकार नही सुहाता जिस प्रकार कि चोर को चाँदनी रात अच्छी नही लगती। देवता सरस्वती जी के पास जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि "माता ! तुम कृपा करके रामचन्द्र जी का वनवास कराओ। राज्याभिषेक के उत्सव मे विघ्न डालो।" सरस्वती जी अयोध्या में आकर मथरा की बुद्धि को फेर देती है। मथरा यक्ष्मा रोग की प्रतीक है। ईर्ष्या ही यक्ष्मा है। यह संक्रामक रोग है। मंथरा से यह रोग कैकेयी को भी लग जाता है। जब तक कैकेयी देवताओं के पाश से दूर है, तब तक कैकेयी वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है। सम्पूर्ण अयोध्या के लिए पूज्या है, श्लाघ्या है। वह राम की माता है, वंदिता है।

बाद मे देवताओं की कुचाल मे फँसी कैकेयी घोर ईर्ष्यारूपी नागिन बन जाती है। देवताओं के द्वारा जो भवतव्य होगा, कैकेयी और दशरथ उसी के प्रमुख साधन हैं। तुलसी की लेखनी का संकेत भी है—

"केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवतब्यता बस काम कौतुक लेखई॥"

(मानस, अयो०, २५/छंद)

सरस्वती के प्रभाव से कैकेयी भी मथरा की बातों मे आ जाती है और ईर्ष्या तथा स्वार्थ के वशीभूत होकर राजा दशरथ से अपने दो वरदान इन शब्दों मे माँगती है—

"सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥
मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥"

(मानस, अयो०, २६/१-३)

देवताओं के पाश में फँसी हुई कैकेयी सरस्वती के वश में हैं। कैकेयी अपने में नहीं है। उसे देवों ने आवेश का नशा करा दिया है। वह राजा दशरथ से अपने वचनों को पूरा कराके राम, सीता और लक्ष्मण को वन भेज देती है। राम के बिना अयोध्या सूनी हो जाती है। राम वियोग में दशरथ का प्राणान्त हो जाता है। भरत जी मामा के यहाँ से अयोध्या आते हैं और माता कैकेयी से कहते हैं कि "माँ! राम के लिए वनवास माँगते समय तेरे मन में पीड़ा नहीं हुई, तेरी जीभ जली नहीं और मुँह में कीड़े नहीं पड़े।"

मर्यादावादी तुलसी पुत्र के द्वारा माता के प्रति ऐसी मर्यादाहीन वाणी क्यों कहलवाते हैं? यह प्रश्न मानस के पाठक के मन में उठना स्वाभाविक है।

तुलसी के राम तुलसी के लिए अथवा कहिए कि भरत के लिए साकार-चल-जीवंत-विश्वधर्म है। कैकेयी मात्र एक परिवार-धर्म है। धर्म की परिधियों से विश्वधर्म परिवार-धर्म से बड़ा है, वरणीय है। समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान ही धर्म है। भरत के लिए राम समष्टि धर्म है, और कैकेयी व्यष्टि धर्म है, इसीलिए व्यष्टि धर्म को समष्टि धर्म के लिए बलिदान किया जा रहा है, भरत की वाणी में। भरत के लिए विश्वधर्म ही वरणीय धर्म है, क्योंकि वह बृहत्तम धर्म है।

राम, सीता और लक्ष्मण वन को चले गये। अयोध्या अनाथ हो गयी। अयोध्या के नर-नारी कैकेयी को गालियाँ देकर कोसने लगे। राम से अलग होकर वंदिता कैकेयी निन्दिता बन गयी। भगवान् से दूर बना व्यक्ति संसार में बुरा बन जाता है; क्योंकि जो राम से दूर हुआ, वह हराम का शिकार हुआ।

श्रीरामचन्द्र जी ने एक बार नहीं, अनेक बार माता कैकेयी के चरण स्पर्श किये होंगे। अयोध्या से वन जाते समय भी राम ने कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया होगा; किन्तु राम के प्रणाम, राम की विनय कैकेयी के देव कुचाली-नशे को दूर न कर सकी। सरस्वती का कुप्रभाव जो कैकेयी को उग्र-चंडी तथा ईर्ष्या-नागिन बना चुका था, उसे यदि दूर किया, तो केवल भरत की फटकार ने। राम को वन भेजने में मूल कारण कैकेयी है। जब भरत को यह मालूम हुआ, तभी से भरत ने कैकेयी से मन से बोलना बन्द कर दिया। यह स्थिति कैकेयी के हृदय को बुरी तरह सालती रही। वह दिन-दिन ग्लानि से गलती रही।

देवताओं की मारी हतभागिनी कैकेयी वेदना की दुहरी शिलाएँ अपने कंधों पर उठाती फिरी—एक तो निर्दोष-निरपराध श्रीराम के प्रति क्रूर व्यवहार करने की वेदना और दूसरी प्यारे पुत्र भरत द्वारा बोलना बन्द किये जाने की वेदना। जिस पुत्र के लिए कैकेयी ने भारी बदनामी अपने ऊपर ओढ़ी थी, उसी एकमात्र पुत्र भरत ने माँ से बोलना छोड़ दिया था। कितना अन्तर्दाह होगा उस माँ की छाती में?

"कैकेयी जौ लौं जियति रही।
तौ लौं बात मातु सौं मुँहभरि भरत न भूलि कही॥"
(गीतावली, उत्तर०, पद ३७)

चित्रकूट पर राम ने जब सर्व प्रथम माता कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया था, तब कैकेयी की दशा और भी अधिक दीन, हीन और मलीन हो गयी थी। तब वह धरती में समा जाना चाहती होगी। जनक जी के चित्रकूट आ जाने पर कैकेयी को ऐसा लगा कि अब अयोध्यावासियों को कुछ दिन और चित्रकूट पर ठहरना होगा। कैकेयी की स्थिति राजा जनक की उपस्थिति में और भी अधिक दीन बन गयी थी। वह अपने दोष को किसके माथे मढ़े और क्या करे? पूरी तरह किंकर्तव्यविमूढ़ बन गयी। तुलसी लिखते हैं—

"गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषनु देई॥"
(मानस, अयो०, २७३/१)

अयोध्या की जनता के लिए कैकेयी भले ही कुटिल हो, तुलसीदास के लिए नहीं है। उसने जो कुछ किया है, वह देवताओं ने कराया है।

'गरइ गलानि' वाली कैकेयी के चित्र को मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में विस्तार दिया है और कहा है कि वह सिंहनी कैकेयी अब गोमुखी गंगा बन गई थी। वह राम से हा-हा खाकर कहती थी कि "बेटा राम! मेरे अपराधों को क्षमा कर दो और भरत का मातृत्व मुझसे मत छीनो। भरत इसमें दोषी नहीं, मैं ही दोषी हूँ।" प्रायश्चित्त के अनुताप से कैकेयी ने अपने अपराध को पूरी तरह धोया है। साकेतकार लिखता है—

"सब ने रानी की ओर अचानक देखा।
वैधव्य तुषारावृता यथा विधुलेखा॥

बैठी थी अचल तथापि असंख्यतरंगा ।
वह सिंही अब थी हहा गोमुखी गंगा ।।''
(साकेत, सर्ग ८)

चित्रकूट पर कैकेयी गोमुखी गंगा बन गयी । राम से अलग होकर कैकेयी निन्दिता बन गयी । चित्रकूट पर उसकी दशा में परिवर्तन आया । प्रायश्चित्त ने उसके अभिनिन्दित चित्र को कुछ-कुछ स्वच्छ किया । अन्त में १४ वर्ष के उपरांत राम के राज्याभिषेक को देखकर कैकेयी को अपार हर्ष हुआ होगा । अपने पुत्र भरत के साथ वह भी उस महा हर्ष मे निमग्न हुई होगी । तुलसी की कैकेयी वास्तव मे कभी कलंकिनी न थी । वह राम को वनवास भेजने में कारण न थी । राम के वनवास का मूल कारण तो देवता थे, या कहिए कि सरस्वती थी । देवताओं के स्वार्थपाश में फँसी कैकेयी तो व्यर्थ मे ही बद-नाम हो गयी । यह भी मानना पड़ेगा कि कैकेयी की बदनामी ने भरत के स्वरूप को संसार के समक्ष परम सुन्दर ढँग से प्रस्तुत करा दिया ।

माता कैकेयी सदा-सर्वदा वदनीया, और अभिनंदनीया है । वह निन्दिता नहीं है, सदा वदिता है । उससे जो कुछ अशुभ हुआ है, वह उसने किया नहीं है, कराया गया है । वह भोली मृगी देवताओं ने अपने कुचाल-जाल मे फाँसी थी । तुलसी की वास्तविक कैकेयी वह है, जिसके मुख से निम्नांकित वाक्यावली निकली थी—

''राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली ।
देउँ मागु मन भावत आली ।।'' (मानस, अयो०, १५/४)

× × × ×

'जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू ।
होहुँ राम सिय पूत पुतोहू ।।'' (मानस, अयो० १५/७)

भवभूति के 'उत्तररामचरित' की कैकेयी ही तुलसी के मानस की वास्त-विक कैकेयी है । रामचन्द्र को वनवास देनेवाली कैकेयी तो देवताओं के पाश में बँधी हुई थी । भवभूति के 'उत्तररामचरित' की तीनों सासुओं (कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा) ने सीता-वनवास के बाद अयोध्या में रहना छोड़ दिया था । वे दूर एक आश्रम मे रहने लगी थी ।

कैकेयी राम को वन भेजने में माध्यम या निमित्त कारण बनी है। उस निमित्त कारण को भी वास्तव में एक अद्भुत श्रेय प्राप्त है।

यदि कैकेयी रामचन्द्र जी को वन न भेजती, तो श्रीराम को भारतीय इतिहास में इतना गौरव, सम्मान और यश प्राप्त न होता। विश्व के इतिहास में राम को कोई नहीं जान पाता। राम के जीवन का सुमन महान् कष्टकंटकों में भी खिलता रहा, हँसता रहा; इसीलिए सम्मान और गौरव की महती सुगन्ध उस सुमन को मिली। इतनी मिली कि आज तक भी उसी रूप में फैली हुई है। इसका श्रेय निमित्त कारणरूपा कैकेयी को ही है। श्रीरामरूपी सुमन को खिलानेवाली तथा सुगन्धमय बनानेवाली समीरमयी अद्भुत अरुणिम किरण कैकेयी को ही मानना होगा।

○ ○

८. उपासना की मौनमूर्ति सुमित्रा

पुराणो के पृष्ठो पर यह लिखा मिलता है कि मनुज-योनि के साथ धरित्री पर दो योनियाँ और थी–(१) देव–योनि (२) दनुज-योनि। किन्तु मानव-जन्म और मानव-विकास का इतिहास इसके समर्थन मे मौन है। हाँ, नृविज्ञान और मनोविज्ञान यह मानते हैं कि विचारो और वृत्तियो के मसार मे उपर्युक्त तीनों योनियाँ साथ-साथ रहती है। एक ही मनुज प्रातः देव है, तो साय दनुज बन जाता है। हम विचारो और वृत्तियो से देव तो बहुत कम बन पाते है, प्रायः मनुज और दनुज ही अधिक बने रहते है। जो विचार–वृत्तियों से मनुज बने रहते हैं और कभी दनुज नही बनते, वे अभिनंदनीय है, लेकिन जो मनुज-लोक के साथ देव–लोक मे सच्चे मन से विचरण करते है और इन्ही दोनो लोकों को अपनी कर्मभूमि बनाते हैं, वे अभिनदनीय ही नही, वन्दनीय भी है। राजा दशरथ की छोटी रानी एव लक्ष्मण–शत्रुघ्न की माता सुमित्रा ऐसे ही दिव्य मनुज-लोक की पूज्या मानवी है, जिसने विचारों के देवलोक को ही अपनी कर्म-भूमि बनाया था।

भारतीय सस्कृति के नारी–समाज में पतिव्रताओं का दर्जा सर्वोच्च माना गया है। प्रत्येक पतिव्रता नारी प्राणपण से पति के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित होती है; किन्तु इतना तो वह चाहती ही है कि उसका पति किसी समय उससे प्यार के दो बोल अवश्य बोल दे। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से जिस पतिव्रता को पति से इतना भी न मिला हो और फिर भी जो पूर्णतया पतिपरायण रही हो, उसे नारी-समाज में क्या दर्जा मिलना चाहिए? भारतीय समाजशास्त्र के महा-पण्डितो को ऐसी नारी के लिए पतिव्रता से कोई ऊँचा पद अवश्य निश्चित करना होगा। राजा दशरथ ने छोटी रानी सुमित्रा से कभी सीधे-सीधे दो बातें तक नही की। इतना ही नही, बेचारी सुमित्रा को तो अपने पति के हाथो से पुत्रेष्टि–यज्ञ का क्षीरांश भी नही मिला। कौशल्या और कैकेयी को पति से वैसा गौरव मिलने पर भी सुमित्रा ने कभी कुछ शिकायत तक नही की। वह ईर्ष्या की आग से सदा दूर रही। पातिव्रत धर्म के क्षेत्र मे उसने कभी प्रेम को व्यापार नही बनाया। उसका पति के प्रति प्रेम एकांगी था। सुमित्रा पति से

प्रेम करती है, पति के लिए सर्वात्मभाव से समर्पित है, यही सुमित्रा के जीवन का प्रमुख ध्येय रहा। इस ध्येय को ही सुमित्रा श्रेय और प्रेय मानती रही। वह जीवनभर पति की मौन आराधिका रही। जीवनभर श्रद्धेय प्राणप्रिय पतिदेव का मौनाराधन ही सुमित्रा का पूजन, अर्चन और वंदन बना रहा।

सुमित्रा की कोख से दो पुत्र हुए—एक लक्ष्मण, दूसरे शत्रुघ्न। परिवार-धर्म को पूजा माननेवाली सुमित्रा ने अपने दोनों पुत्रों को कभी अपना नहीं माना। लक्ष्मण यदि कौशल्या को सौंप दिया गया, तो शत्रुघ्न कैकेयी को। राम-लक्ष्मण की तथा भरत-शत्रुघ्न की जोड़ी सदा बनी रही। वे जोड़ियाँ ऐसी बनीं कि भारतीय इतिहास में अमर हो गयीं। इतिहास को यह अमरता सुमित्रा के त्याग से ही प्राप्त हुई है। सुमित्रा के त्याग ने ही वनवासी राम को लंका की विजयश्री प्रदान करायी थी। लक्ष्मण के बिना श्रीराम लंकापति रावण पर विजय नहीं पा सकते थे।

महाभारत में एक घटना-प्रसंग है। पाण्डव कुन्ती-सहित वन में मारे-मारे फिर रहे थे। कौरवों ने उन्हें रहने के लिए एक गाँव तक भी नहीं दिया था। कुन्ती बहुत दुखी थी। एक दिन कृष्ण कुन्ती के पास पहुँचे और उनका दर्द जानना चाहा। कुन्ती ने कृष्ण से उत्तर में कहा, "भतीजे कृष्ण! अब वह समय आ गया है, जिसके लिए क्षत्रियाणी पुत्र को जना करती हैं।" महाभारतकार के इस उक्त वाक्य की व्यंजना यही है कि माता पुत्र को जन्म देकर उससे अपने लिए कुछ आशा भी रखती है; लेकिन जिस माता ने अपने पुत्रों को दूसरों की ही सेवा के लिए जना हो, उस माता को किस कोटि में रखना चाहिए? रामायणकाल इस दृष्टि से महाभारतकाल से ऊँचा है। रामायण-काल को जो यह उच्च पद मिला है, उसका बहुत कुछ श्रेय माता सुमित्रा को है।

तुलसी का 'मानस' साक्षी है कि न तो सुमित्रा ने ही कभी कोई बात राम से कही और न राम ही माता सुमित्रा से कभी बोले; फिर भी सुमित्रा राम से सर्वाधिक प्रेम करती है। परिवार के नाते सुमित्रा के लिए राम पुत्रवत् हैं और सीता पुत्रवधूवत्; लेकिन सुमित्रा ने राम और सीता को सदा परम आदरणीय और सम्माननीय ही माना। मानसिक धरातल पर सुमित्रा राम की आराधिका है। लगता है भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास की मनोभूमि में सुमित्रा उपासना की प्रतीक है और राम उस उपासना के उपास्यदेव हैं। उस उपास्यदेव के प्रति उपासनारूप सुमित्रा पुत्रसहित समर्पित है। माता के गुण

पुत्र में आते ही है। अत. लक्ष्मण भी राम के लिए उतने ही समर्पित हैं। जन्म-प्रदाता के रूप मे दशरथ भले ही लक्ष्मण के पिता हों और सुमित्रा माता हो, लेकिन लक्ष्मण के मन से कोई पूछे, तो यही उत्तर मिलेगा कि श्रीराम लक्ष्मण के पिता हैं और सीता जी उनकी माता हैं। राम को वनवास मिलने के समय लक्ष्मण ने अपनी सच्ची भावना स्पष्टरूप से इन शब्दों मे व्यक्त भी कर दी थी—

"गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पति आहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीन बंधु उर अंतरजामी॥"
(मानस, अयो०, ७२/४-६)

रानी सुमित्रा अपने पति राजा दशरथ से प्रेम मे विनिमय तो चाहती ही नही, वह राम से भी कुछ नही चाहती। रानी सुमित्रा ने तथा माता सुमित्रा ने सदा देना ही जाना है, लेना नही चाहा। वन-गमन से पूर्व राम कैकेयी तथा कौशल्या से बिदा लेते हैं, प्रणाम करते है, किन्तु सुमित्रा से तो बात क्या, बिदा के समय उसे एक पल देखते भी नही। लगता है, तुलसी के भगवान् राम के हृदय में उपासिका सुमित्रा प्रतिपल ही रहती है। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों के लिए सदा समर्पित हैं। भक्त सदा उनके सान्निध्य में हैं और भगवान् भक्तों के सान्निध्य में। दुनियादारी का-सा मिलना, मिलाना कैसा? इसी आत्मविश्वास के कारण राम लक्ष्मण से केवल इतना कहते हैं कि तुम माता से बिदा लेकर आ जाओ। माता से तो बिदाभर लेनी है। राम की अनुमति ही माता सुमित्रा की अनुमति है—यह राम जानते हैं। लक्ष्मण के द्वारा बिदा माँगते समय बात भी नही निकली। लक्ष्मण ने जो चाहा; माता सुमित्रा की ओर से उससे दूना-तिगुना मिला। दूना-तिगुना ही नहीं, न मालूम कितने गुना मिला और कितना अधिक मिला? राम की सेवा मे सदा के लिए सुमित्रा ने अपनी आत्मा ही दे दी।

लक्ष्मण माता सुमित्रा से बिदा माँगते समय यदि यह समझते हों कि मैं वन जाने मे कोई बहुत बड़ा कर्तव्य पाल रहा हूँ, सुमित्रा लक्ष्मण के उस अहं की बूंद को भी विनष्ट कर देती हैं। वह मृदुवाणी में लक्ष्मण से कहती है— "लक्ष्मण! तुम्हे वन में कष्ट ही क्या होगा? तुम्हारे साथ तो तुम्हारे पिता हैं और तुम्हारी माता है। तुम वन मे जा भी कहाँ रहे हो? तुम तो एक

प्रकार से अयोध्या में ही रहोगे, क्योंकि तुम्हारे पिता राम और तुम्हारी माता सीता जहाँ हैं, वही तुम्हारे लिए अयोध्या है। मेरी तो बहुत छोटी गोद है, तुम्हारे लिए तो अब दो बडी गोदें मिलेगी। तुम्हारा तो जन्म ही राम-सीता की सेवा के लिए हुआ है। यदि राम-सीता वन को जाते हैं, तो तुम्हारा यहाँ अयोध्या मे रहना व्यर्थ है।" उसी क्षण भक्ति-भाव से भरी हुई उपासनास्वरूपा सुमित्रा के मन की सहज भावना व्यक्त हो जाती है। वह लक्ष्मण से कहती है—

"पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नाते ॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥"
(मानस, अयो०, ७४/७,८)

इतना ही नहीं सुमित्रा तो उसी नारी को पुत्रवती मानती है, जिसका पुत्र राम का भक्त हो। राम विमुख पुत्र को जन्म देनेवाली नारी से तो सुमित्रा बाँझ को अच्छा मानती है—

"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई।
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥"
(मानस, अयो०, ७५/१,२)

लक्ष्मण मेघनाथ की शक्ति से मूर्च्छित हो जाते है। हनुमान् द्रोणगिरि से सजीवनी लेकर आकाश-मार्ग से अयोध्या पर होकर जा रहे हैं। भरत के बाण से कपीन्द्र अयोध्या में गिर जाते हैं। माता सुमित्रा को समाचार मिलता है कि लक्ष्मण युद्ध मे मूर्च्छित हो गये और राम एकाकी रह गये। वह रावण से कैसे विजय पाएँगे ? सीता कैसे प्राप्त होगी ? माता सुमित्रा को चिन्ता लक्ष्मण की नहीं, चिन्ता राम और सीता की है। अश्रुपूरितनेत्रा माँ सुमित्रा तुरन्त पुत्र शत्रुघ्न से लंका जाने के लिए कहती है और तब शत्रुघ्न भी आज्ञा-पालन के लिए हाथ जोडकर खडे हो जाते हैं

तात ! जाहु कपि सँग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।"

(गीतावली, लंका०, पद १३)

तुलसीकृत 'मानस' और 'गीतावली' की प्रमुख पंक्तियों की आत्मा के दर्शनों के उपरान्त यही कहा जा सकता है कि तुलसी की सुमित्रा परात्पर ब्रह्म भगवान् राघवेन्द्र की सच्ची आराधिका है। वह श्रद्धा और उपासना की प्रतीक है। राम उपास्य है, तो सुमित्रा उपासना है। कौशल्या गंभीर है, कैकेयी तेजस्विनी है और सुमित्रा सरलता की मौनमूर्ति है।

○ ⊙

९. सीता : एक जीवन-त्रिधारा

तुलसी के राम यदि अनादि ब्रह्म हैं, तो सीता उनकी अनादि शक्ति विद्या-माया है। तुलसी के राम यदि विष्णु हैं, तो सीता लक्ष्मी हैं। तुलसी के राम यदि नरावतार लीलाधारी हैं, तो सीता उनकी माया शक्ति हैं, जो मानवी रूप मे लीलाधारिणी है। तुलसी के राम यदि मर्यादा पुरुषोत्तम है, तो सीता मर्यादा नारीशिरोमणि है। तुलसी के राम यदि राजा दशरथ के पुत्र है, तो सीता जनक की पुत्री और राजा दशरथ की पुत्रवधू है। जिस प्रकार राम कौशल्या के अयोनिज पुत्र है, उसी प्रकार सीता सुनयना की अयोनिजा पुत्री हैं।

इस लेख के पाठको को स्मरण रखना चाहिए कि जनकपुर सीता जी की स्वयवरभूमि है। आज-कल जनकपुर नैपाल राज्य मे है। इस नगर को बिहार-नैपाल के सधिस्थल पर माना जा सकता है। सीतामढ़ी सीता जी की जन्मभूमि है और अयोध्या श्रीराम की जन्मभूमि। चित्रकूट एक ऐसा स्थल है, जहाँ वनवासी जीवन मे श्रीराम और श्रीसीता जी पर्याप्त समय तक साथ-साथ रहे थे। सीतारामपदसेवी तुलसी को इसीलिए चित्रकूट परम प्रिय है।

तुलसी के लिए राम और सीता दो भिन्न व्यक्तित्व नही। तुलसी सीता-राम' रूप मे एकपद को ही भजते हैं। राम तुलसी के लिए शक्तिमान् है और सीता उस शक्तिमान् की शक्ति है। शक्तिमान् के संकेत पर ही उसकी शक्ति सृष्टि-सर्जना करती है। जिस प्रकार ऊर्जा पदार्थ से पृथक् नही, उसी प्रकार राम से सीता पृथक् नहीं। तुलसी अलग-अलग सीता और राम के उपासक नही, एक सीताराम के उपासक है। तुलसी जानते और मानते हैं कि जहाँ सूर्य, वहाँ ज्योति; जहाँ चन्द्र, वहाँ चन्द्रिका।

कश्यप तथा अदिति और मनु तथा शतरूपा की तपस्या के फलस्वरूप परात्पर ब्रह्म नरावतार धारण करने के लिए विवश हुआ। इसे तुलसी ने 'मानस' के ——— के प्रारम्भ में ही व्यक्त कर दिया है। वह ब्रह्म सर्वोपरि है। नाना ब्रह्मा विष्णु और महेश उससे जन्म पाते हैं सीता उसी अनादि ब्रह्म की

नादि शक्ति हैं। सीता वह अनादि शक्ति हैं, जिनसे अगणित ब्रह्माणी, लक्ष्मी और उमा जन्म पाती है। उसी अनादि शक्ति को सीता के रूप मे अनादि ब्रह्म राम के बाईं ओर मनु और शतरूपा ने सत्ताईस हज़ार वर्षों की तपस्या के उपरान्त देखा है और उनके दर्शनो से अपने नेत्र सफल किये है।

"जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥
छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥"
(मानस, बाल०, १४८/३-५)

तुलसी के लिए राम जगत्-पिता है और सीता जगज्जननी। प्रारम्भ मे जगज्जननी जानकी को ही तुलसी अपना प्रणाम निवेदित करते हैं। तुलसी की सीता का अपना स्वरूप तुलसी के लिए यही है, जो महणीय और वदनीय है

"जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुगपद कमल मनावउँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥"
(मानस, बाल०, १८/७,८)

सीता जी ब्रह्म की वह विद्यामाया नाम की शक्ति हैं, जो ब्रह्म के सकेत पर जगत् का भाव, विभव और पराभव करती हैं। शक्ति सीता द्वारा सृष्टि-सर्जना, पालन और नाशन का उल्लेख महामुनि वाल्मीकि भी श्रीराम से करते है, जब वनवासी राम, लक्ष्मण और सीता जी गंगापार करके उनके आश्रम में पहुँचते हैं—

"श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥"
(मानस, अयो०, १२६/छद)

तुलसी-मानस के अयोध्याकाण्ड में वाल्मीकि मुनि की वाणी के माध्यम से सीता जी की जिस शक्ति का सकेत मिलता है, उसका क्रियान्वित रूप अद्भुत-रामायण में देखा जा सकता है। अद्भुतरामायण मे वाल्मीकि मुनि ने अपने शिष्य भरद्वाज को राम-सीता कथा सुनायी है। अद्भुतरामायण के राम केवल लंकाधिपति दशमुख रावण को ही मार सके हैं। पुष्करद्वीप के अधिपति सहस्र-मुख रावण को तो सीता जी ने ही महाकाली का रूप धारण करके युद्धभूमि मे

समाप्त किया है। उस महाकाली के महारक आवेश को शंकर ही बालकरूप से चरणों में लोटकर शान्त कर सके हैं।

नारदमोह के प्रसंग में भगवान् राम विष्णु हैं और सीता लक्ष्मी हैं। नारद के शाप के कारण विष्णु और लक्ष्मी ने राम और सीता के रूप में जन्म धारण किया है। शंकर जी कामजयी नारद से मना करते हैं कि "नारद ! तुम अपनी विजय के गर्व की कथा भूलकर भी विष्णु जी को मत सुनाना।" नारद नहीं मानते हैं और अन्त में रमापति रमेश की लीला के चक्कर में नारद जी आ ही जाते हैं। दशरथ के यहाँ जन्म लेनेवाले राम और राजा जनक के यहाँ जन्म लेनेवाली सीता पूर्वजन्म के विष्णु और लक्ष्मी हैं विष्णु और लक्ष्मी की प्राचीन प्रीति ही विदेहराज जनक की पुष्पवाटिका के राम-सीता-प्रेम के रूप में प्रकट हुई है। सीता जी राम के रूप का दर्शन करने के लिए एक सखी को अग्रगामिनी बनाकर चल देती हैं। तुलसी ने इसे पुरातन प्रीति कहा है—

"चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥"

(मानस, बाल०, ३२९/८)

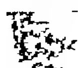
श्रीराम के राज्याभिषेक के समय चारों वेद और सब देवता भगवान् राम की यशः कीर्ति गाते हैं। तभी शंकर भी श्रीराम की अर्थात् रमा-रमण की प्रार्थना करते हुए उन्हें विष्णु बताते हैं। तब भी सीता जी लक्ष्मीरूप ही सिद्ध होती हैं—

"जय राम रमारमनं समनं। भवताप भयाकुल पाहि जनं॥
अवधेस सुरेस रमेस बिभो। सरनागत मांगत पाहि प्रभो॥"

(मानस, उत्तर०, १४/छंद १)

कैकेयी द्वारा वन जानेवाली सीता को वल्कल वस्त्र दिये जाने पर अध्यात्मरामायण के वशिष्ठ जी को क्रोध आ जाता है और वे कैकेयी को बहुत डाटते हैं। प्रतिमा नाटक के भरत अपनी माता पर क्रोध करते हुए कहते हैं— कि "माँ ! ओ हृदयहीन माँ ! तेरे पिता ने अपनी शर्त में श्रीराम और सीता जी को वनवास देने की बात तो नहीं रखी थी।"

तुलसी के ग्रंथों में सीता जी का एक तीसरा रूप भी चित्रित है, जो पति श्रीराम की आदर्श पतिव्रता नारी हैं। उनका जीवन राम के जीवन के प्रति पूर्णतः समर्पित है। पति राम के साथ रहने पर पतिव्रता सीता वन के कष्टों



को कष्ट नहीं मानती। पति से अलग रहकर जीवन जीने को सीता जी व्यर्थ मानती हैं। वन–प्रस्थान की वेला में वे अपने पति राम से स्पष्ट कहती है—

"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोक समाजू॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥"
(मानस, अयो०, ६५/३,४,७)

पतिव्रता को मृत्यु का वरण करना प्रिय है; लेकिन पर पुरुष-स्पर्श सह्य नहीं। अशोकवाटिकावासिनी सीता निर्भयतापूर्वक रावण से तिनके की ओट करके कहती हैं—

"स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥"
(मानस, सुन्दर०, १०/३, ४)

पातिव्रत तेज निश्चित ही अपूर्व होता है। कम्बन और अध्यात्मरामायणकार की पंचवटी-निवासिनी सीता जी को रावण स्पर्श करने का साहस नहीं करता। वह पृथ्वीखंड सहित सीता जी को सिर पर उठाकर लंका को ले जाता है। तुलसी–मानस का रावण भी मन में सीता जी के चरणों की वंदना करता है।

पतिव्रता सीता में चार गुणों का प्राधान्य है—(१) रूप (२) शील (३) व्रत (४) नियम।

दण्डकारण्य में सीता–वियोग से संतप्त श्रीराम को सीता के इन चारों गुणों की याद रह–रह कर आती है। विरही राम विलाप करते हुए कहते है—

"हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥"
(मानस, अर०, ३०/७)

'जानकी सीता' सम्बोधन से सिद्ध है कि सीता को ये गुण अपने पिता जनकराज के घर के संस्कारों से मिले थे।

सीता जी रूप में ब्रह्माणी, लक्ष्मी, उमा और रति से अगणित गुनी सुन्दर है। एक प्रकार से वह सुन्दरता को भी सुन्दरता प्रदान करनेवाली हैं। छवि

के गृह में वह दीपशिखा की भाँति प्रज्वलित रहती है। तुलसी के मानस-पटल पर सीता जी का जो प्रातिबिम्बिक रूप अंकित है, वह नितान्त दिव्य और अलौकिक है। जब छवि के सुधासागर में परमरूप भगवान् कच्छप बने और शोभा की नेती और शृंगार की रई से कामदेव उस छवि के सुधा-सागर का मथन करे, तब जो दिव्य लक्ष्मी जन्म लेगी, उस दिव्य लक्ष्मी की सुन्दरता सीता जी के सौंदर्य के आगे नगण्य एवं हेय रहेगी।

"जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥"
(मानस, बाल०, २४७/७,८)

तुलसी के मत से सीता जी का सौंदर्य छवि, रूप, शोभा और शृंगार का समन्वयात्मक स्वरूप है।

शील में मौन, संकोच, मार्दव, विनय आदि का सुयोग समाविष्ट है। शीलवती नारी न कभी मुखर बनती है और न कभी ऊर्ध्व दृष्टि से वार्तालाप करती है।

जानकी जनकपुर की रंगभूमि में आती हैं। श्रीराम को देखना भी चाहती हैं। श्रीराम के दर्शन सीता जी ने जिस विधि से किये, उस में उनका शील पूर्णतः व्यक्त हो रहा है।

"प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल॥"
(मानस, बाल०, २५८/-)

तब श्रीराघवेन्द्र सीता जी के शील और स्नेह को पूरी तरह जान लेते हैं। पतिव्रता सीता के करुणा निधानपति श्रीराम उसके अन्तस् के स्नेह को, उसके सहज शील को समझते हैं, इसका सीता को विश्वास भी था, क्योंकि गौरी के मंदिर में पूजा करनेवाली जानकी को गौरी ने पहले ही विश्वास दिला दिया था—

"मन जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो।
करुना निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो॥"
(मानस, बाल०, २३६/छंद)

सास कौशल्या पुत्रवधू सीता के शील की प्रशंसा करते थकती नहीं। कौशल्या पुत्र राम से पुत्रवधू सीता के रूप और शील गुण के विषय मे कहती है—

"दै पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई ॥"
(मानस, अयो०, ५६/१)

गुण और शील के साथ सीता जी मे शारीरिक सौन्दर्य भी है। वे रूप-राशि हैं। तुलसीदास जी ने सीता जी को छविगृह में दीपशिखा बताया है। वाल्मीकि और कालिदास की भाँति तुलसीदास दीपशिखा कवि हैं। वाल्मीकि ने रावण को दीपशिखाभिभासित, कालिदास ने इन्दुमती को दीपशिखा और तुलसी ने सीता जी को दीपशिखा बताया है—

"दीपिकाभिः अनेकाभिः समन्तात् अभिभासितम्।"
(वाल्मीकिरामा०, सुन्दर, सर्ग १६/२२)

"सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।"
(रघुवंश, सर्ग ६/६७)

"सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई ॥"
(मानस, बाल०, २३०/७)

शुभ कर्म के लिए संकल्प करना ही व्रत है। श्रीराम सीता जी के व्रत की दृढ़ता को समझते हैं। सीता ने जो ठान ली, वह ठान ली। उनके व्रत को फिर ब्रह्मा भी नहीं पलट सकता; इसीलिए वन-गमन के समय श्रीराम कहते हैं—

"हठ राखें नहिं राखिहि प्राना ॥" (मानस, अयो०, ६८/२)

मानव-जीवन के प्रमुख छह सुखों मे एक प्रमुख सुख है पत्नी का मृदुभाषिणी होना। सीता जी परिवारियों तथा अन्यों के लिए सदा मृदुभाषिणी रही। वन-मार्ग में मिलनेवाली ग्रामवनिताओं के प्रति सीता जी का व्यवहार श्लाघ्य है, आकर्षक है, आनन्दप्रद है। ग्रामवनिताएँ सीता जी से पूछती है—

"कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥"
(मानस, अयो०, ११७/१)

सीता जी ग्रामवधुओं को अपनी वाणी से लक्ष्मण का परिचय और चेष्टाओं (मुद्राओं) से श्रीराम का परिचय दे देती है।

सीता जी ने अंचल से अपना मुँह ढक कर और खञ्जन नेत्रों की तिरछी दृष्टि के वक्रभ्रूविलास से प्रियतम राम की ओर देखकर संकेत मात्र से बता दिया कि साँवले शरीरवाले राजकुमार मेरे पति हैं। इस शील-लज्जामय मुद्रासंकेत से वे ग्रामवनिताएँ आनन्दमग्न हो गयीं। तुलसीदास लिखते हैं—

"भईं मुदित सब ग्रामबधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥"

(मानस, अयो०, ११७/८)

मानवजीवन का व्यावहारिक समाजवाद इससे अधिक ऊँचा कहाँ मिल सकता है कि एक राजकुमारी तथा राजकुलवधू निरक्षर सामान्य ग्रामवनिताओं से ऐसी प्रेममयी आत्मीयता का व्यवहार करे।

सीता जी अपने गार्हस्थ्य जीवन के नियमों का पालन पूरी तरह करती हैं। वह श्रीराम की पत्नी है, तो कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा आदि सासुओं की पुत्रवधू है। सीता जी ने अपनी सेवा-शुश्रूषा से अपनी सासुओं के मन को जीत लिया है। सीता जी आदर्श पुत्री तथा आदर्श पुत्रवधू हैं; तभी तो चित्रकूट पर जनक ने कहा था—

"पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ॥" (मानस, अयो०, २८७/२)

वनवास से पहले तथा वनवास के बाद में सीता जी का नियम एक-सा ही रहा।

सीता जी श्रीराम के वनवासी-जीवन की शान्ति रहीं। पंचवटी पर सीता से पृथक् होते ही राम की शान्ति चली गयी। श्रीराम सीता-शान्ति के बिना सदा अशान्त रहे, चिंतित रहे। सीता जी की प्राप्ति पर ही राम के जीवन में शान्ति आयी। शान्तिस्वरूपा सीता जी की प्राप्ति के कारण ही श्रीराम राज्य-सिंहासन पा सके। सीता जी से अलग रहकर श्रीराम मोहग्रस्त रहे, रोते-बिलपते रहे। सीता का साथ मिलते ही राम राजा हुए। रामराज्य के यशोभागी बने।

राजा जनक के यहाँ से अयोध्या में आने पर सीता जी ने सेवा-नियम का सदा पालन किया—

"सीयँ सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥"

(मानस, अयो०, २५२/४)

१४ वर्ष वनवासी जीवन बिताने के बाद अयोध्या में आकर सीता जी उसी प्रकार सेवा-धर्म निभाती रही। राजा रामचन्द्र जी की पत्नी अर्थात् राजरानी होने पर भी सीता जी घर का काम-काज स्वयं करती थी। स्वयं ही अपनी सासुओं को नहलाती थी, भोजन कराती थी और पैर दबाती थी।

"निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥"

(मानस, उत्तर०, २४/६ ८)

सीता जी मे सेवा-भाव की ऐसी उच्चता और उदात्तता निश्चितरूपेण अपनी जन्मदात्री जननी से मिली होगी। सीता जी की जन्मदात्री माता के सम्बन्ध मे पौराणिकचरित्रो के आधुनिक व्याख्याता श्री उमाकान्त मालवीय (अब स्वर्गीय) सुनाया करते थे—"कैसी रही होगी वे परिस्थितियाँ जब सीता को माँ ने जन्म देकर उस खेत मे डाल दिया था, जहाँ राजा जनक अकालग्रस्त प्रजा का दुःख दूर करने के लिए हल चलाने का अनुष्ठान करने जा रहे थे। फिर वह हल वहीं पर अटक गया, जहाँ मिट्टी के एक पात्र मे बालिका को रखा गया था। बालिका के चोट न लगे, इस सुरक्षा के लिए माँ ने पात्र के मुँह पर पत्थर सटा दिया था। हल के फाले की नोक यदि मिट्टी के पात्र से टकराये भी, तो बालिका के चोट न लगे। फिर उस बालिका (सीता) की माँ ने राजा जनक के यहाँ धाय का काम भी किया और बेटी को पाला। एक माँ जीवनभर अपनी बेटी को बेटी न कह पायी, सदैव दासी ही बनी रही। परन्तु माँ का वह सेवी मातृत्व बालिका सीता के साथ सदा डोलता रहा।" सेविका माँ का सेवा भाव बेटी सीता मे अंकुरित होकर पल्लवित हुआ, पुष्पित हुआ और फलित हुआ।

हल के फाले की नोक से खेत मे जो रेखा (कूँड़) बनती है, उसे संस्कृत मे सीता कहते हैं। राजा जनक को वह बालिका खेत की सीता में मिली थी; इसलिए उस बालिका का अन्वर्थ नाम 'सीता' ही रख दिया गया।

राजर्षि जनक को बेटी सीता के सदाचरण, सत्य और शील पर पूर्ण आस्था, विश्वास और गौरव था। चित्रकूट पर पुत्री सीता को श्रीराम के साथ वनवास मे देखकर जनक परम आह्लादित हुए थे और उनकी वाणी एक साथ इन शब्दों में फूट पड़ी थी—

"पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ।" (मानस, अयो०, २८७/२)

महाकवि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' नाटक में राजर्षि जनक की इस भाव-भावना को पूरी तरह से व्यक्त किया है।

सीता–वनवास के उपरान्त वानप्रस्थी राजर्षि जनक अयोध्या आते हैं। तब एक व्यक्ति उनसे कहता है कि राजर्षे ! सीता जी की अग्नि–शुद्धि पर लोगों ने जब विश्वास नहीं किया ? तब विवश होकर श्रीराम को सीता जी वन भेजनी पड़ीं। ये शब्द सुनकर राजा जनक आवेश में आ गये और कहने लगे कि "हमारी सन्तान को शुद्ध करनेवाला अग्निदेव कौन होता है ?" निश्चित-तरूपेण सीता जी की पवित्रता अग्नि-सामर्थ्य से भी ऊँची थी।

गार्हस्थ्य जीवन में बड़ों की सेवा करना और छोटों को प्यार देना ही प्रमुख है। सीता जी में लक्ष्मण के लिए पुत्रवत् स्नेह है। श्रीराम के साथ सीता जी वन-मार्ग में जा रही है। राम की आज्ञा से लहौरे देवर लक्ष्मण जल लेने के लिए चले गये हैं। बालक ही तो हैं। अभी उम्र ही क्या है ? इधर बारी उमर, उधर बीहड़ वन, हिंसक जीवों से भरा हुआ है। डर ही डर है। माता जानकी को प्यारे लक्खन लरिका का पूरा-पूरा ध्यान है कि बारे लछिमन जल लेने गये है। हम चलते ही रहे- तो वह बहुत पीछे रह जाएँगे। धूप-ताप में अकेले कहाँ भटकेंगे ? वह राम से कहती हैं—"आर्य पुत्र ! हमें उनकी प्रतीक्षा में कुछ समय के लिए रुक जाना चाहिए।" लखनलाल के प्रति सीता जी के स्नेह-भाव की झलक निम्नांकित शब्दों में मिल जाती है। सीता जी श्रीराम से निवेदन करती हैं—

"जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।"

(कवित्ता०, अयो०, छंद १२)

कष्टसहिष्णुता, हृदय की विशालता और उदारता, जन-जन के हृदय के भावों का आदर, सब का मीठी वाणी से स्वागत-सत्कार, संकोच-शील-विनय भरी वाणी और वह भी ऐसी कि बोलते समय फूल झड़ें – इन सबको मिलाकर जो चित्र बनता है, वही है श्रीराम की प्राण-प्यारी पतिव्रता पत्नी श्रीसीता जी का चित्र। यह वह प्राणवन्त चित्र है, जिसने पञ्चभौतिक शरीर धारण करके पति के संग रहते हुए वन के कष्टों में सुख का अनुभव किया है। यह वह प्राणवन्त चित्र है, वियोगजन्य भीषण ज्वालाओं में भी जिसके आनन से सदा स्मिति की अमृतधारा प्रवाहित होती रही है। श्रीराम की प्राण-प्रिया सीता ऐसे चंद्र की चन्द्रिका है जो जीवन के कृष्ण-पक्षों में भी ज्योतिर्मयी बनी

सुधा-वर्णन करती रही हैं। सीता दिव्य नारी है, जिसके बलिदानी स्वरूप से प्राणप्यारे पति राम को भी भीषण अरण्य के घोर संकटों को झेलने में पर्याप्त बल मिला है। सीता राम का सबल रही है।

पातिव्रत धर्म की शक्तिमत्ता दिखाने के लिए ही तो तुलसी ने बताया कि छायासीता के ही स्पर्श से रावण का विनाश हो गया। वास्तविक सीता के प्रभाव का तो क्या कहना ? कथा यह भी है कि वह छायासीता वास्तव में वेदवती थी। एक बार रावण आकाश-मार्ग मे जा रहा था, तब वेदवती को देखकर उस पर आसक्त हो गया। वेदवती राजा कुशध्वज और रानी मालवती की कन्या थी। उसने जनमते ही वेदपाठ प्रारम्भ कर दिया था; इसलिए अन्वर्थ नाम वेदमती हुआ। रावण ने वेदवती के साथ बलात्कार करना चाहा। तब तपस्या के बल से वेदवती ने रावण को स्तम्भित कर दिया और स्वयं अग्नि मे समा गयी। दंडकारण्य मे वह छायासीता वेदवती अग्नि मे से बाहर आ गयी।

अपने सरल स्वभाव और सद् व्यवहार से सीता ने वन-मार्ग की ग्राम-वनिताओं के मन को भी जीत लिया है। भोली-भाली अशिक्षित ग्रामवधुएँ सीता जी से राम-लक्ष्मण के विषय में पूछना चाहती हैं। उनकी जिज्ञासा सहज है, निश्छल है। कुछ क्षण की द्वन्द्वमयी स्थिति को पार करके वनवासिनी सीता बता देती है कि गोरे शरीरवाले कुमार का नाम लक्ष्मण है और वह मेरे छोटे देवर हैं। अब प्रश्न अपने पतिदेव को बताने का रह जाता है। सीता जी भारतीय नारी है। पति का रिश्ता ग्रामवधुओं को बताएँ, तो कैसे बताएं ? स्वभावगतशील और लज्जा ने वाणी को आगे बढ़ने से रोक दिया। बड़े कुमार का सम्बन्ध न बताना भी एक धृष्टता ही मानी जाएगी। कुछ क्षण के उपरांत सीता जी ने जिन नयन-संकेतों, मुद्राओं तथा चेष्टाओं से पतिदेव को बताया, उनके द्वारा सीता जी की शील-विनयभरी उदारता की पूरी व्यंजना प्रकट हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं —

> "बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
> खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥"
>
> (मानस, अयो०, ११७/६,७)

यह माना कि सीताजी और ग्रामवधुओं के मध्य होनेवाले वर्तालाप के समय जो लज्जाशीलमयी चेष्टाएँ सीता जी की, तुलसीदास की लेखनी से

चित्रित हुई हैं, उनका मूलस्रोत हनुमन्नाटक (अंक ३/१५) है, किन्तु भावांकन में तुलसी हनुमन्नाटककार से ऊँचे सिद्ध होते हैं। हनुमन्नाटककार जिसे वाणी द्वारा व्यक्त करता है, तुलसी उसे अधिक लज्जामयी चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त कर देते है—

"पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना, कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रम्, मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता ॥"

(हनुमन्नाटक ३/१५)

सीता के चोरी चले जाने पर वियोगी राघवेन्द्र सीता जी की याद करते हुए उनके रूप, शील, व्रत और नियम की पवित्रता का बखान करते है। रूप तो सीता जी मे इस कोटि का है कि छविगृह की दीपशिखा के समान वह सुन्दरता को भी सुन्दर करनेवाली हैं। शील की सीमा की अवगति तब हो जाती है, जब रंगभूमि मे आकर सीता जी श्रीराघवेन्द्र को एक क्षण देखकर फिर तुरन्त पृथ्वी की ओर देखने लगती है। उनके वन प्रस्थान के लिए किये हुए व्रत की अनुभूति श्रीराघवेन्द्र को अयोध्या मे ही हो गयी थी, जबकि श्रीराम ने यह अनुभव किया था कि मेरे द्वारा हठपूर्वक सीता को अयोध्या मे रखा गया, तो निश्चित रूपेण सीता अपने प्राणो को त्याग देगी। १४ वर्ष के वनवास से अयोध्या आ जाने पर सीता जी का प्रतिदिन का नियम था कि सासुओ की सदा सेवा करना, घर के सारे कार्य स्वय करना तथा अपने पति श्रीराघवेन्द्र की आज्ञा का पालन करना।

निर्भयता तथा मनोबल के साथ रूप, शील, व्रत, नियम आदि परम शोभा को प्राप्त हो जाते है। सीता जी निर्भय हैं। उनमे मनोबल चरम कोटि का है। अशोकवन-वासिनी सीता जी रावण से कहती है—

"सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥"

(मानस, सुन्दर०, ९/६)

इतना ही नहीं सीता जी मे वह भक्ति है, जो वन्द्य है, श्रद्धेय है। रावण भी सर्वप्रथम जब सीता जी को देखता है, तब मन मे उन्हे प्रणाम निवेदित करता है। प्रणाम निवेदित करके सुख का अनुभव करता है। तुलसीदास लिखते हैं—

मन महुँ चरन बंदि सुख माना।" (मानस, अर० २८/१६)

तुलसीकृत 'मानस' के रावण में सीता जी के प्रति जो वन्दनीय श्रद्धा का भाव दृष्टिगोचर होता है, उसकी प्रेरणा सम्भवतः तुलसीदास जी को अध्यात्म-रामायणकार से तथा तमिळरामायणकार कम्बन् से मिली है। अध्यात्मरामायण का रावण सीता जी का अपहरण तो करता है, लेकिन उनके शरीर का स्पर्श नही करता। सीता जी जहाँ खड़ी थी, उतनी ही धरती नखों से खोदकर गमले की भाँति सिर पर रखकर सीता जी को ले जाता है। कम्बनकृत तमिळरामायण मे तो रावण सीता जी सहित पूरी कुटी को ही सिर पर उठाकर ले जाता है। कैलाश पर्वत को कई बार उठानेवाले रावण के लिए पचवटी पर की कुटी-सहित धरती को उठा लेना कोई बड़ी बात न थी। रावण ने यह सब इसी-लिए किया था कि सीता जी के शरीर का स्पर्श न होने पाए। शक्तिस्वरूपा सीता जी के प्रति रावण का यह श्रद्धासमन्वित भाव ही माना जाएगा।

सेनासहित खर और दूषण का संहार करनेवाले राम के वीरत्व का समाचार सुनकर रावण को आभास हो गया था कि ईश्वर ने अवतार ले लिया। खर-दूषण मनुष्य के द्वारा नही मारे जा सकते थे। ईश्वर के साथ उसकी शक्ति का भी अवतार हो गया। सीता जी उस शक्तिमान् ईश्वर की अनादि शक्ति हैं---रावण यह समझ गया है, इसीलिए उसने प्रणाम निवेदित किया है। इतना होने पर भी बाद मे रावण की बुद्धि डाँवा-डोल बनी रही है।

महात्मा तुलसीदास जी को अपनी आराध्या स्वामिनी को विषम, दीन तथा घोर कष्टमयी परिस्थिति में डालना अभीष्ट न था और न तुलसी सीता जी को (निरपराध सीता जी को) लाछित रूप मे देखना चाहते थे; इसीलिए रामचरित-मानस' मे रामकथा को रावण-वध के उपरान्त रामराज्याभिषेक पर ही समाप्त कर दिया गया है। रामचन्द्र जी के राजसिंहासन पर बैठने के बाद तुलसी लिखते है—

"राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥"
(मानस, उत्तर०, २/५)

रामराज्य की सुख-सम्पन्नता का वर्णन करने के उपरात गोस्वामी तुलसीदास एक दम लवकुश-जन्म की घटना का सकेत भर कर देते है—

"दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए। लव कुस बेद पुरानन्ह गाए॥"
(मानस उत्तर० २५/६)

महात्मा तुलसीदास ने सीता-वनवास के प्रसंग को स्पर्श नहीं किया है। इसमें तुलसीदास ने अध्यात्मरामायणकार का अनुगमन किया है; वाल्मीकि का नहीं। वाल्मीकि ने तो सीता-वनवास के प्रसंग को विस्तार से लिखा है।

'सीता' नाम वाणी पर आते ही एक ऐसी दिव्य सुगन्ध की अनुभूति होती है, जिसने भारत के गगनांगन को ही नहीं, अपितु विश्व के व्योम को सुवासित किया है।

महाकवि तुलसी की सीता एक ऐसी परम-दिव्य जीवन-त्रिधारा है, जिसमें ब्रह्म-शक्ति, लक्ष्मी और पतिव्रता-नाम की तीन धाराएँ संश्लिष्ट रूप में साथ-साथ अजस्र प्रवाहित हो रही है।



१०. श्रीराम की कौनसी छवि सीता के मानस पर अमिट रही ?

चाहे सीता जी का माधुर्यमय ललित सौंदर्य हो और चाहे राम का मधुरिम ओजस्वी सौंदर्य; गोस्वामी तुलसीदास सौंदर्य की स्थिति विषय में ही मानते हैं, विषयी में नहीं। सीता जी कितनी सुन्दर हैं—इसके सम्बन्ध में तुलसीदास संकोच के साथ कहते हैं कि एक महापरमदिव्यतमलक्ष्मीरूपा ज्योति एक ऐसे अलौकिक एवं अद्भुत दिव्य क्षीरसागर में से उत्पन्न हुई, जिस सागर का मंथन स्वयं कामदेव ने अपने हाथों से किया है। वह दिव्य क्षीरसागर छवि-रूपी अमृत से परिपूर्ण है। उसमें ही परमरूप का कच्छप है। इस क्षीरसागर में शृंगार की मन्दराचलरूपी रई पर शोभा की नेती (रज्जु) लिपटी हुई है। वह अद्भुत दिव्यतम लक्ष्मी फिर भी सीता जी के रूप-सौंदर्य के समक्ष हीन-सी ही सिद्ध होती है। जिस प्रकार रूप-शील में ब्रह्मा की सरस्वती, शंकर की पार्वती और विष्णुप्रिया लक्ष्मी श्रीसीता जी के आगे किसी गिनती में ही नहीं है; उसी प्रकार राम की छवि के समक्ष ब्रह्मा, विष्णु और महेश की छवियाँ भी नगण्य है।

सीता–सौंदर्य को व्यक्त करनेवाले तुलसीदास जी के इस उपर्युक्त कथन (मानस, बाल०, २४७/५-८) से यह भी सिद्ध होता है कि सौंदर्य एक ऐसी समन्वयात्मक मनोहारिता है, जिसका निर्माण छवि, रूप, शोभा और शृंगार से हुआ है। तुलसी से पूर्व किसी भी कवि ने सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया।

महारानी सीता जी के मानस-पटल पर रूपसागर श्रीराघवेन्द्र की कई छवियाँ आयी और चली गयी। अन्त में कौन-सी छवि प्रमुखतः स्थायी रूप से अमिट बनी रही ? यही यहाँ प्रतिपाद्य और विवेच्य है।

प्रथम छवि—सीता जी ने अपने पिता मिथिलेश जनक राज की सुरम्य वाटिका में फूल चुनते हुए शोभासागर श्रीराम की छवि को

पहलीबार देखा था। उनके घुँघराले बालों में कुसुमकलियों के गुच्छे लगे हुए थे और सिर पर मोरपंख सुशोभित थे। साँवली सूरत के सुन्दर राजकुमार श्रीराम के बायें हाथ में सुमनों का एक दोना है और दाहिने कर से वे वाटिका के फूल चुनते जाते हैं।

"मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुअँर सखी सुठि लोना॥"

(मानस, बाल०, २३३/२,५,८)

रूपागार श्रीराम की यही वह किशोर छवि थी, जिसकी पहली झलक ने ही जनक की वाटिका में जनकदुलारी किशोरी सीता को व्याकुल-सा बना दिया था। इसी छवि के छविमान् शोभाधाम साँवले सुकुमार को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए किशोरी कुमारी सीता ने गौरी के मन्दिर में गजवदन-षडानन-माता पार्वती से मौन प्रार्थना की थी। मातेश्वरी पार्वती ने सुशीला सीता की सच्ची प्रार्थना तुरन्त सुनी और आशीर्वाद दिया—

"मन जाहि राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो"

(मानस, बाल०, २३६/छंद)

द्वितीय छवि—राजा जनक ने सीता-स्वयंवर के लिए रंगभूमि सजवायी है। देश-देशान्तर के अवनिपति अपने-अपने पद-वैभव के अनुसार मंचों पर विराजमान हैं। बंदी, मागध, सूत आदि आकर राजा जनक जी के प्रण की घोषणा कर रहे हैं। लगभग सभी राजा-महाराजा धनुष पर अपने-अपने बल को अजमा चुके हैं। शिव का पिनाक टस से मस नहीं होता। कैलाश पर्वत को उठानेवाले रावण और महाबली बाणासुर ने तो उस पिनाक को छुआ तक भी नहीं। दृष्टि से देखा भी, तो सभा-काल के बाहर रात्रि में। तब मिथिलाधिपति जनकराज ने दुखी होकर कहा—

"बीर बिहीन मही मैं जानी" (मानस, बाल०, २५२/३)

शेषावतार लखनलाल को जनकराज की यह वाणी असह्य हुई। उनके नेत्र रिसौंहे हो गये और होंठ फड़कने लगे। लक्ष्मण खड़े होकर भरी सभा में हाथ उठाते हुए, दाहिने चरण को आगे बढ़ाते हुए तथा दाहिने हाथ की तर्जनी से राजाजनक के कथन को रोकते हुए पूज्य भ्राता रामचन्द्र को संबोधित

करके बोले—"पूज्य भ्राता जी ! यदि आपकी अनुमति मिल जाए, तो यह बेचारा पुराना पिनाक तो कुछ चीज भी नहीं है, मैं सपूर्ण ब्रह्माण्ड को गेंद की तरह उठा सकता हूँ और कच्चे घडे की तरह फोड सकता हूँ। सुमेरु पर्वत को भी मूली की भाँति तोड सकता हूँ।"

श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मण की शक्ति को और भक्ति को अच्छी तरह जानते थे। लक्ष्मण की वाणी मे सत्य था; लेकिन वह वाणी सभा मे राजा जनक को कुछ लज्जित-सा बना रही थी; अत. बडे भाई रामचन्द्र जी ने आँखो के इशारे से लघु भ्राता लक्ष्मण को वरज दिया और प्रेमपूर्वक अपने पास बिठा लिया।

तब गुरुवर विश्वामित्र ने राजा जनक की निराशामयी वेदना के शब्दो के सभी अर्थ क्षण मे ही समझ लिए। राजर्षि विश्वामित्र ने उन शब्दो का वाच्यार्थ ही नही, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी समझ लिया था। अत शीघ्र ही प्रेमपूर्ण वाणी मे शिष्य राम को आज्ञा देते हुए बोले—

"उठहु राम भजहु भव-चापा" (मानस, बाल०, २५४/६)

गुरुदेव के आदेश का पालन करने के लिए श्रीराम उठे। पहले गुरुवर के चरणो मे प्रणाम किया। प्रणाम के उपरान्त श्रीराघवेन्द्र जिस ठवनि से उठे, उसकी छटा के आगे युवा मृगराज भी लज्जित हुए। मत्तमजु बालकुजर की भाँति राघवेन्द्र शिव-पिनाक के पास धीरे-धीरे सहज गति से चले। धनुष के पास जाकर मन मे गुरुदेव को प्रणाम करके धनुष को इतनी शीघ्रता से उठाया कि उसका उठाना, उसकी प्रत्यचा का चढ़ाना तथा खीचना किसी को दिखाई ही नही पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास राघवेन्द्र की उस छवि को इस प्रकार चित्रित करते है—

"सहजहिं चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु वर कुजर गामी॥"
(मानस, बाल०, २५५/५)

"गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा। अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा॥"
(मानस, बाल०, २६१/५)

"लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें॥"
(मानस, बाल०, २६१/७)

जनकदुलारी सौभाग्यकांक्षिणी किशोरी जानकी की आँखों ने किशोर

श्रीराघवेन्द्र की यह दूसरी छवि देखी थी। दूसरी बार देखी हुई राम की छवि में माधुर्य के साथ ओज का भी हलका-सा रंग समाविष्ट था। पिनाक भंजन करनेवाली इसी राम-छवि ने सीता की हृदयभूमि में प्रेमांकुर को पल्लवित किया था।

तृतीय छवि—राजा जनक की उस रंगभूमि में राम ने धनुष को उठाकर मध्य से तोड़ दिया। उसकी ध्वनि दसों दिशाओं में फैल गयी। धनुष के टूट जाने पर जयमाला का उपक्रम प्रारम्भ हो गया। चतुर सखियाँ जयमाला के लिए सीता जी को रंगभूमि में ले आयी और सीता जी से संकेत में कहने लगी कि राजकुमार श्रीराम को जयमाला पहनाओ। प्रेमाधिक्य के कारण सीता जी के हाथों में स्तंभन-सा हो गया। साहस बटोर कर जयमाला लिये हुए सीता के ऊपर को उठे हुए दोनों हाथों ने राघवेन्द्र की ग्रीवा का स्पर्श किया और एक क्षण को उनके नेत्रों ने भी श्रीराघव की सुरम्य छवि के दर्शन किये। तुलसी ने भी अपने मानस नेत्रों से उस शोभा को देखा और इन शब्दों में चित्रित किया—

"चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सियँ जयमाल राम उर मेली॥"

(मानस, बाल०, २६४/५-८)

सीता जी के मानस-पटल पर किशोर कुमार रामचन्द्र की यह तीसरी मनोहारिणी छवि अंकित हुई थी। इसी छवि ने सीता के मानस-सरोवर में अपार आनन्द की ललित लहरें लहरायी थीं।

श्रीराम की छवि परम परमामयी छवि है। सच्चिदानंद ब्रह्म इस क्षण से पहले सत्चित्रूप ही था। श्रीराम ज्ञानस्वरूप ही थे। जब भक्तिरूपी सीता ने गले में माला डाल दी, तब ज्ञान परम शोभाशाली बना और आनन्दित हुआ। भक्ति की माला पड़जाने पर ही वह ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप को सार्थक करने लगा, यह वह पुनीत वेला है, जिसमें ज्ञान और भक्ति के हृदयसागर में आनंद की लहरें साथ-साथ लहराती हैं।

चतुर्थ छवि—श्रीराम के गले में जयमाला पड़ गयी। कठोर कुठारधर

भृगुकुलकमलपतग परशुराम का भी करालक्रोधपूर्ण दर्प दलित हुआ। यह वे ही परशुधर परशुराम है, जो शिव-धनुषभग-ध्वनि सुनकर जनक की सभा मे एक दम आ गये थे और उनके आगमन से सभा मे सन्नाटा छा गया था। ध्वनि की चाल १ सैकिड में ११२० फुट है। लगता है धनुर्भग के समय परशुराम जनकपुर के सिमाने के पास से ही जा रहे होगे, अन्यथा इतनी जल्दी न आ पाते। भृगुकुलकमलपतग से यह भी प्रकट है कि परशुराम तीसरे पहर के बाद आये है। सन्ध्या कालीन सूर्य ही 'पतंग' कहाता है।

महान् हर्ष से ओत-प्रोत वातावरण म राजा जनक के विवाह-मण्डप रचाने के लिए मंत्री तथा अन्य राजकर्मचारियो को आदेश दे दिया गया। राजा दशरथ के लिए अयोध्या को शुभ समाचार भेजा गया। राजा दशरथ भरत-शत्रुघ्न और अन्य बरातियो को लेकर जनकपुरी मे आ गये। बरात सजी और सजकर चढने लगी। दूल्हे श्रीराघवेन्द्र बहुत सुन्दर घोडे पर सवार हुए। घोडे के पीछे अन्य बराती भी चलने लगे। जनकपुरी के नर-नारी उस बरात को देखने लगे। युवतियाँ तथा सीता जी की सहेलियाँ घोडे पर सवार श्रीराम को दूल्हे के रूप मे देख रही हैं। ऐसा नही हो सकता कि किशोरी सीता ने अपने प्राण-प्रिय दूल्हे श्रीराघवेन्द्र को न देखा हो। अवश्य देखा होगा, भले ही लुक-छिपकर देखा हो। श्रीराम का वह रूप सामान्य रूप न था। उसे देखकर ब्रह्मा विष्णु और महेश के नेत्र भी परमानन्द प्राप्त करने लगे। शंकर ने अपने पद्रह नेत्रो को तभी प्रिय माना और सराहा था। त्रिलोचन शकर उसी क्षण सच्चे अर्थों में पचदशलोचन शंकर बने थे। तुलसी लिखते हैं—

'जेहि बर बाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा॥
संकरु राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे॥"

(मानस, बाल०, ३१७/१,२)

घोडे पर सवार दूल्हे नयनाभिराम श्रीराम की यह छवि सीता के मानस-पटल पर चौथी छवि थी। घोडा काम का प्रतीक है। श्रीराम काम पर तो सवारी किये हुए है, अत श्रीराम की वह छवि कामछवि नहीं है; परमपवित्र दिव्य छवि है। जिस प्रकार गिरवरराजकिशोरी पार्वती शिव की कामरहित छवि पर मुग्ध थी, उसी प्रकार पार्वती जी की पुजारिणी सीता जी भी राम की कामरहित छवि पर मुग्ध हैं।

दुलहिन श्रीसीता दूल्हे श्रीराम की उस छवि के दर्शन करके कितने हर्षो-

ल्लास के साथ आनन्द-सागर मे नहायी होगी—इसे सीता जी का ही मन जानता है। तुलसी के पाठको के लिए अथवा भक्तो के लिए उस दृश्य की अनुभूति शृंगार-रसानुभूति नही, अपितु भक्तिरसानुभूति है। अधिक शास्त्रीय भाषा मे कहे, तो वह एक दिव्य शान्तरसानुभूति है। भक्त पाठकों के लिए श्रीराम जी तथा श्रीसीता जी और घोडे सहित बरात का वह दृश्य भक्तिभाव का दिव्य आलम्बन है, भक्त पाठक स्वय आश्रय है। तब भक्तों का वह भक्ति भाव ही परिपक्व होकर भक्ति रस की सज्ञा प्राप्त करता है। जगन्माता सीता जी तथा जगत्पिता श्रीराम जी की वह युगल छवि सभी भक्तों का कल्याण करे! उस रस की मन्दाकिनी मे जिसे स्नान करने का सुन्दर सुभग सौभाग्य मिल जाए, वह ससार-सागर से सदा के लिए पार हो जाता है। तब बूंद क्षीर सागर मे मिलकर सारूप्य मुक्ति का आनन्द प्राप्त करती है।

पंचम छवि—रावण का मामा मारीच स्वर्णमृग बनकर पाकर-जम्बु-रसाल-तमाल से सकुल पचवटी मे सीता जी की कुटी के आगे चौकडी भरता हुआ घूम रहा है। मृगनयनी रामप्रिया सीता जी ने उस मृग को देखा और वे उसका चर्म लाने के लिए अपने प्राणेश्वर श्रीराम से निवेदन करने लगी। श्रीराम प्राणप्रिया सीता की इच्छा-पूर्ति के लिए कमर मे फेंटा बाँधकर और धनुष-बाण लेकर मृग के पीछे-पीछे चल दिये। आगे-आगे मृग और पीछे-पीछे श्री राघवेन्द्र। मृग की उछल-कूद और गति के साथ श्रीराम के नेत्र भी गतिमान् थे। नेत्रो की भौहे तथा पुतलियाँ भी मृग की ऊपर, नीचे और आगे की गतियो का अनुगमन कर रही थी। मृग के पीछे दौडनेवाले श्रीराम के पाँवो के तलवे सीता जी को दिखाई दे रहे थे। श्रीराम बाण को निषग से निकालकर और उसे धनुष की प्रत्यचा पर चढाकर अपनी ओर खीचे हुए मृग के पीछे-पीछे दौडे चले जा रहे थे। तुलसीदास ने कवितावली (अयो०, छंद २६) मे श्रीराम के उस धावन-दृश्य को इस प्रकार चित्रित किया है—

'प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि,
चितै चित दै चले लै चितु चोरे।
स्याम सरीर पसेउ लसै,
हुलसै तुलसी छबि सो मन मोरे।
लोचन लोल चलै भृकुटी,
कल काम कमानहु सो तुन तोरे।

राजत राम कुरंग के संग,
निषंग कसे धनु सों सर जोरे ॥"
(कविता, अयो०, छंद २६)

'मानस' (अर०, २७/१०) के कविवर तुलसी श्रीराम की इस धावन-छवि को एक अर्धाली में इस प्रकार अंकित करते हैं—

"प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाए राम सरासन साजी ॥"
(मानस, अर०, २७/१०)

इसी छवि को कुछ विस्तार देते हुए गीतावली में गोस्वामी जी लिखते हैं—

"सोहत मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥"
(गीतावली, अर०, पद ३)

धावनि, नवनि, बिलोकनि और बिथकनि—इन चार क्रियाओं के चार चल बिम्बों के साथ तुलसीदास की बिम्बविधायनी काव्यकला-शक्ति का आकलन करते हुए यह कहा जा सकता है कि 'गीतावली' और 'कवितावली' में श्रीराम जी की जिस संश्लिष्ट छवि को चित्रित किया गया है, वह एक प्रकार से मानस की अर्धाली—

'प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाए राम सरासन साजी॥"

की व्याख्या है। कथाप्रधान प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा मुक्तककाव्य में बिम्ब को विस्तार देने के लिए कवि के पास अवकाश भी अधिक होता है। प्रायः बिम्ब, उद्दीपन विभाव और अनुभाव ही मुक्तककाव्य में रस-संचार किया करते हैं। बिम्ब से प्रमुख तात्पर्य है, चाक्षुष बिम्ब।

प्राणवल्लभा प्रिया ने अपने प्राणप्रिय प्राणनाथ से जीवन में पहली बार ही तो एक छोटी-सी याचना की थी। उसे पत्नीव्रत श्रीराम पूरा क्यों न करते। श्रीराघवेन्द्र तुरन्त धनुष-बाण लेकर हिरन को मारने चल दिये। अखिल ब्रह्माण्डनायक परमप्रभु मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम भक्त के प्रेम में अपना ब्रह्मत्व ही भूल गये। भगवान् ब्रह्म से बहुत अधिक विशाल हैं; अति-विशाल हृदय हैं। ब्रह्म जब जगत्प्रकाशक और मायापति के रूप में आजाता है, तब ईश्वर कहलाने लगता है। जब ईश्वर में प्रेम और करुणा का सागर

लहराने लगता है, तब उसकी संज्ञा भगवान् हो जाती है। भगवान् तो परमात्मा से भी बड़े हैं। प्रेम और करुणा के भंडार है, भगवान्। ज्ञानी का ब्रह्म शून्य है। योगी का परमात्मा ज्योति है; लेकिन भक्त के भगवान् अपार वर्षा करने वाले जलद हैं। करुणानिधान भक्तों की दीन-हीन दशा पर करुणा-वारि बरसाते हैं।

प्रभु का सहजरूप करुणानिधान का ही है। सीता जी एकान्त मे श्री राघवेन्द्र को करुणानिधान कहकर ही सम्बोधित किया करती थी। भगवान् बस भगवान् ही होते है न परमात्मा, न ब्रह्म। ब्रह्मत्व भूलकर कपटहेममृग के पीछे-पीछे इतने दौड़े कि दौडते ही रहे और दौडते-दौडते पसीनों मे तर-बतर हो गये और थक भी गये। अपने भक्त के लिए भगवान् का ऐसा प्रेमपूर्ण समर्पण-भाव अन्यत्र मिलना कठिन है। भगवान् की ऐसी प्रेमभाव-भावितछवि भक्त के द्वारा क्या कभी भुलायी जा सकती है ? कभी नहीं। मृग के पीछे श्री-राम निरन्तर दौडे चले जा रहे हैं। उनके पद-तल पीछे की ओर है, सीता जी के स्नेहाजित नेत्र उन तलवों के दर्शन कर रहे हैं। उस गतिमती पद-तल-छवि को आँखो में बसाकर सीता जी कुटिया में खडी रही और फिर सन्यासी-वेश मे रावण आकर 'अतिथिदेवो भव' की उपासिका सीता को हर ले गया। कुररीवदीना परवशा सीता आकाश-मार्ग मे विकलबनी चिल्लाती रही. 'हा राम, हा राम' पुकारती चली जाती रही। वह पद-तल छवि रावण-बंदिनी सीता जी की आँखों मे समायी रही। वह छवि सीता जी के मानस-पटल पर अमिट भी बनी रही। तुलसी लिखते हैं—

"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम ॥"

(मानस, अर०, २९ ख/-)

हिरन के पीछे दौडते हुए राघव के चरण-तल की वह छवि सीता के मानस-पटल पर अमिट रही, अमर रही। उसी छवि का ध्यान करते हुए सीता ने रावण की अशोक-वाटिका में एक वर्ष का अपना बन्दी-जीवन बिताया। अशोक-वाटिका मे बन्दिनी सीता उन्ही चरणों का ध्यान करती रहती हैं। उन्हे विश्वास है कि मृग के पीछे दौड़नेवाले चरण मेरे लिए ही तो दौडे थे। वे चरण जिस प्रकार मृग के पीछे दौड़े और उस मारीच मृग को रावण के बन्धन से छुड़ाकर मुक्ति प्रदान की ; उसी प्रकार मेरे आराध्य श्री

राघव के वे चरण मेरे लिए भी दौड़ेगे और रावण के बन्धन से मुझे भी छुड़ाएँगे।

भगवान् राघवेन्द्र के उसी मृगधावनरूप का ध्यान करती हुई सीता जी के समक्ष हनूमान् अशोकवन मे उपस्थित हुए थे। हनूमान् को देखकर अर्थात् रामदूत को पाकर भी सीता जी रोयी थी और कहा था—

"बचनु न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी।।"

(मानस, सुन्दर, १४/७)

सयोग अर्थात् मिलन के क्षणों मे भी नारियाँ वियोग की स्मृति के कारण करुणार्द्र हो जाती हैं और रोने लगती है। अमरीकी वैज्ञानिक **विलियम फ्रे** का शोधात्मक निष्कर्ष है कि नारियाँ नरो की अपेक्षा पाँच गुना अधिक रोती है। नारियो का हृदय कोमल होता है। उनमे पुरुषो की अपेक्षा सवेदना अधिक होती है। वियोगजन्य पीडा की अनुभूति सामान्यतया नारियो मे अधिक पायी जाती है; फिर रघुवश की कुलवधू पतिपरायणा सीता जी के पातिव्रत धर्म की और हृदय की कोमलता की तो बात ही निराली थी।

सीता जी के मानस-पटल पर मृगधावन श्रीराम का चित्र ऐसा चित्रित रहा कि वियोगजन्य खारे अश्रुजल से भी नहीं मिटा; अमिट रहा, अक्षुण्ण रहा। सीता जी के नेत्रों की पुतलियों मे श्रीराम के पदतल सदा विराजमान रहे। वे पदतल ही सीता जी के प्राणों के लिए जंत्रित (ताला) बन गये थे। उन्होने ही सीता जी के शरीर से प्राणो को बाहर नही निकलने दिया था।

अत· श्रीराम के चरणों की कुरंग-धावन-छवि ही सीता जी के लिए एक संवल-छवि है, अमिट छवि है। अशोकवनवासिनी सीता जी को उसी छवि के ध्यान मे निमग्न हनूमान् जी ने देखा था। सीता जी की उसी शान्त मौन मुद्रा को कपीन्द्र हनूमान् ने श्रीराघवेन्द्र को इन शब्दों मे बताया था—

"नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट।।"

(मानस, सुन्दर०, ३०/-)

श्रीराघवेन्द्र के वियोग मे सीता जी का प्राणान्त क्यों नही हुआ; इसका एक सुन्दर कारण हनूमान् जी ने श्रीराघवेन्द्र को उनके चरण-प्रभाव मे बताया है। कवि हृदयराम भाषा हनुमन्नाटक मे लिखते हैं—

"एहो हनू ! कह्यो श्रीरघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माहीं ।
है प्रभु अंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाहीं ।।
जीवति है ? कहिबे को नाथ, सु क्यों न मरीं हमतें बिछुराईं ।
प्रान बसै पदपंकज मैं जम आवत है पर पावत नाहीं ।।"

(हृदयराम, भाषा हनुमन्नाटक)

सीता जी के मानस-पटल पर अंकित होनेवाली छवियों में यह पाँचवीं छवि थी, जिसे भक्त के लिए भगवान् की परमप्रिय जीवनाधार छवि कहा जा सकता है। भागवतकार के शब्दों में इसे 'पादसेवन' भक्ति भी कह सकते हैं।



११. मयतनुजा मंदोदरि नामा

बृहदारण्यक उपनिषद् मे एक प्रसग आया है कि प्रजापति की तीन सन्तानें थी—(१) देव (२) मनुष्य (३) दैत्य।

देव स्वभाव से भोगविलासी थे, मनुष्य संग्रही थे और दैत्य क्रूर तथा अत्याचारी थे। गुण-स्वभाव के भेद के कारण जो देव, मनुष्य और दैत्य पृथक्-पृथक् माने जाते थे, वैसे ये एक ही पुरखे की सताने थे।

क्रूर कर्मों तथा अत्याचारों की ओर जिन दैत्यो की वृत्तियाँ बढती गयी; खान-पान में भी जब वे बहुत तामसिक होने लगे, तब उन दैत्यो मे दानव और राक्षस भी आ मिले। इस तरह क्रूर वृत्तियों के वे व्यक्ति दैत्य, दानव और राक्षस नाम से पुकारे जाने लगे। उन तीनो की वृत्तियाँ मिलती–जुलती-सी ही थी।

वाल्मीकिरामायण (बाल०, सर्ग ४३/३१) मे दैत्यो, दानवों और राक्षसो को अलग–अलग माना गया है। दैत्यो को ही असुर कहा जाता था, क्योंकि वे सुरा का सेवन नही करते थे। जो आदित्य (अदिति-पुत्र) सुरा का सेवन करते थे, 'सुर' कहे जाते थे। सुरा पीकर देवता मस्त पड़े रहते थे और भोग-विलासी बन गये थे। दैत्य (असुर) विलासी नहीं थे; पर स्वाभाव से क्रूर अवश्य थे।

आदित्यों और दैत्यो में प्राय: युद्ध ठना रहता था। दैत्य (असुर) राक्षसो से मिलकर एक हो गये थे(वाल्मीकि, बाल०,स०, ४५/४१)। देवताओ के साथ उनका संग्राम होता रहता था। राक्षसों के साथ दानव भी दैत्यो से आकर मिल गये थे।

इस तरह दैत्यों, राक्षसों और दानवों का एक विशाल वर्ग बन गया था। देवों और दैत्यों की मध्य-स्थिति मे मनुष्य थे। मनुष्यों मे देवों की-सी कुछ अच्छाइयाँ थी, लेकिन दैत्यों की सी कुछ बुराइयाँ भी थी।

मानव यदि ऊपर उठेगा, तो देवत्व को प्राप्त करेगा, यदि नीचे गिरा तो दनुज बन जाएगा। देवताओं के गुरु अंगिरा–पुत्र बृहस्पति और दैत्यों के गुरु

भृगु-पुत्र शुक्राचार्य थे। मनुष्यों के गुरुओं में वशिष्ठ, भरद्वाज, विश्वामित्र, अगस्त्य आदि के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

लंकाधिपति दशानन रावण राक्षस था। शंकर जी रावण के गुरु थे। रावण पुलस्त्य ऋषि का पौत्र तथा विश्रवा ऋषि का पुत्र था। वृत्तियों से क्रूर होने के कारण राक्षस कहलाता था। रावण को दशानन क्यों कहा गया? इसके सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। कहा जाता है कि रावण चार वेद और छह शास्त्रों का ज्ञाता था; इसलिए दशानन कहलाया। कुछ लोगों का कथन है कि उसके पास एक ऐसा यन्त्र था, जो दशों दिशाओं की सूचना देता था। रविषेणाचार्यकृत जैन पद्मपुराण में उल्लेख मिलता है कि रावण अपनी ग्रीवा में एक कण्ठा पहनता था, जिसमें नौ मणियाँ थीं। उनमें उसके चेहरे का प्रतिबिम्ब पड़ता था। इस तरह उसके दस आनन दिखायी पड़ा करते थे। मलेशिया, थाइलैंड, श्रीलंका, तमिलनाडु आदि की रामायणों के आधार पर डा० मधुसूदन चासरकर का मत है कि रावण के दस राज्य थे—(१) **उड़ीसा** (२) **मध्यप्रदेश** (३) **आंध्र** (४) **तमिळ** (५) **कोंकण** (६) **गोवा** (७) **गोकर्ण** (८) **कलिंग** (९) **पाण्ड्य** (१०) **चेर**। ये ही दस राज्य उसके आनन थे।

मन्दोदरी मय दानव की पुत्री थी, जो दशानन रावण की पत्नी बनी। सुमाली राक्षस की कन्या कैकसी विश्रवा मुनि की पत्नी थी। वही रावण की माता थी। इस तरह मन्दोदरी एक दानव-कन्या और कैकसी एक राक्षस-कन्या थी। स्वाभाव और विवाह सम्बन्धों के कारण दैत्य, दानव और राक्षस एक दूसरे के अति निकट आ गये थे। राक्षस रावण और राहु वृत्तियों से समान थे। रावण के दस सिर और बीस भुजाएँ इस बात की प्रतीक हैं कि वह मस्तिष्क से जो विचारता था, उसका दूना उलटा हाथों से करता था। जानता था कि राम ईश्वर हैं; फिर भी नर मानकर उनसे बैर ठाना और सीता का हरण किया।

उसने जीवन में अनेक ऋषि-कन्याओं के सतीत्व को भ्रष्ट करने की योजनाएँ बनायी थीं। उनका अपहरण किया था। सती-साध्वी वेदवती के साथ बलात्कार करने की क्रूर इच्छा का उल्लेख तो वाल्मीकि ने भी किया है। उसकी काम-वासना की प्रवृत्ति को शूर्पणखा अच्छी तरह जानती है, इसीलिए शूर्पणखा रावण को सीता-हरण के लिए प्रेरित करती है यह कहकर—

"सोभा धाम राम अस नामा। तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥"*

(मानस, अर०, २२/८)

रूप रासि बिधि नारि सँवारी । रति सत कोटि तासु बलिहारी ॥"

(मानस, अर०, २२/६)

साराश यह है कि रावण ऊपर कुछ था और नीचे कुछ और । यही वृत्ति राहु की थी । वृत्तियों से राक्षस, लेकिन देवता बनकर देवताओं की मंडली में बैठ गया, अमृत पीने के लिए ।

रावण और राहु—दोनों—ही अन्दर-बाहर अलग-अलग थे । ऐसे दोगले कपटी या छली व्यक्ति समाज के लिए बहुत घातक होते हैं, इसलिए मारे गये । राम ने रावण को एक साथ ३१ बाण मारकर समाप्त किया और विष्णु ने सुदर्शन चक्र से राहु का गला काट दिया । सिर राहु कहलाया और धड़ केतु । राहु और केतु में इतना ही अन्तर है कि राहु सिर के रूप में ही कष्टप्रद है और केतु तलवार धारण करते हुए कष्टप्रद है । अपेक्षाकृत राहु अधिक क्रूर है । राहु की दशा ज्योतिषशास्त्र में अत्यन्त क्रूर एवं अनिष्टकारी मानी गयी है । तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की कौशल्या प्रतिबिम्बभूताप्लवितालकारमयी वाणी में राम से उनके द्वारा वन के लिए बिदा माँगते समय उनसे कहती है—

"लिखत सुधाकर गा लिखि राहु ।"— (मानस, अयो०, ५५/२)

ज्योतिष में चन्द्रमा का आकार-चिह्न अर्धवृत-सा और राहु का मकराकार बनाया जाता है, अर्थात् अर्धवृत के दाहिने सिरे पर घुंडी-सी बनायी जाती है। चन्द्रमा बनाते समय दाहिने सिरे पर बूँद पड जाए, तो राहु का चिह्न बन जाएगा । बिन्दी चन्द्रमा के चिह्न को राहु के चिह्न में बदल देती है । चन्द्रचिह्न = ˘ । राहुचिह्न = ˘̇ ।

मय दानव अपने समय का मूर्धन्य शिल्पी था । इसने अपने परिश्रम और कला ज्ञान से एक राष्ट्र की स्थापना की थी, जिसे मयराष्ट्र कहते थे । आज जिस जनपद का नाम मेरठ है, वही प्राचीन काल में मयराष्ट्र था । वैदिक भाषा से पूर्व भारत में जो भारतीय आर्य-जनभाषाएँ प्रचलित थी, उनकी विकास-परम्परा में ही मेरठ की जनपदीय भाषा का जन्म हुआ है, जिसे कौरवी या खड़ीबोली कहते है । इसी कौरवी का साहित्यिक रूप आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के नाम से विख्यात है ।

मन्दोदरी बचपन में कौरवी की ही किसी पूर्वजा जननी भाषा को बोला करती होगी । भाषा-स्रोत-सम्बन्धों के कारण मन्दोदरी हमारे अधिक निकट है ।

गोस्वामी तुलसीदास अपने 'रामचरितमानस' में सर्व प्रथम मंदोदरी का परिचय देते हुए लिखते हैं कि—

"मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा ॥"

(मानस, बाल०, १७८/२)

तुलसीदास मन्दोदरी को सुंदर तो बताते ही हैं, साथ में 'ललाम' भी कहते हैं। 'ललाम' शब्द का अर्थ है 'श्रेष्ठ'। तुलसीदास जी के मत से मन्दोदरी सुन्दर और श्रेष्ठ है। अर्थात् मन्दोदरी मन, वचन और कर्म से सुन्दर तथा श्रेष्ठ है।

'श्रेष्ठ' शब्द मे चातुर्य तथा चारित्र्य की उत्तमता का भाव सन्निविष्ट है। मय दानव तथा हेमा अप्सरा की कन्या मन्दोदरी युद्ध का मोर्चा लगाने मे दक्ष थी। अपने पति रावण को विश्वविजयी बनाने के लिए चतुरंग (शतरज) की चालों के माध्यम से युद्धक्षेत्र मे रणसचालन की क्रिया बताया करती थी। चतुरग का खेल मन्दोदरी ने ही आविष्कृत किया था। यही खेल अरब मे जाकर शतरज के नाम से पुकारा गया, क्योंकि अरबी में च और ग अक्षर नही हैं। आर्य विश्रवा और दैत्यवशजा कैकसी का पुत्र रावण राक्षस-सस्कृति का अधिपति था। श्रीरामभद्र आर्य-संस्कृति के अधिपति थे।

तुलसीदास राक्षसराज रावण की पत्नी को भी सुन्दर और श्रेष्ठ बताते हैं। अपनी सद् वृत्तियो तथा सद् गुणो के ही कारण मन्दोदरी श्रेष्ठ है। राक्षसराज रावण की बहिन तथा विद्युज्जिह्व की पत्नी शूर्पणखा निंद्य है, क्योंकि वह वृत्तियो से निकृष्ट है, कामासक्ता है, आचरणहीना है, व्यभिचारिणी है और असत्यभाषिणी है। दूषित वृत्तियो के कारण विरोचन की पुत्री मंथरा भी निन्दनीय है। सुद दैत्य की पत्नी तथा मारीच की माँ ताड़का भी निंद्य हैं। इससे स्पष्ट है कि तुलसी ने जिन नारियों की निन्दा की है, वे स्वभाव और वृत्तियों से घटिया ही रही हैं। मन्दोदरी इसलिए अभिनंदनीय है कि वह सद्वृत्तियो से सम्पन्न है; सदाचारिणी है। राक्षसराज के कुल में भी कुलवती है। नारी-शिरोमणि है।

मन्दोदरी वीरागना है। युद्धायन-व्यवस्था मे निपुण है। रामायणकाल मे युद्धक्षेत्र मे दशरथ के साथ कैकेयी और रावण के साथ मन्दोदरी रहती थी। महाभारत काल मे अर्जुन के साथ सुभद्रा रहा करती थी। अभिमन्यु ने सुभद्रा के गर्भ मे ही युद्धायनव्यवस्था सीख ली थी। अद्भुतरामायण मे उल्लेख है कि पुष्कराधिपति सहस्रमुख रावण से लड़ने के लिए जब श्रीराम तीनों भाइयों को

लेकर गये थे, तब सीता जी भी उनके साथ गयी थीं। सीता जी ने कालीरूप धारण करके सहस्रमुख रावण का सहार किया था।

मन्दोदरी को यह बहुत बुरा लगा है कि उसके पति ने एक पतिव्रता नारी का अपहरण किया है। मंदोदरी अपने पति रावण को उसके अपराध के लिए दु ख तो प्रकट करती ही है, साथ मे समय-समय पर रावण को समझाती भी है कि सीता जी को श्रीराम को सौंप दिया जाए और पतिद्वारा अपराध के लिए श्रीराम से क्षमा माँगी जाए।

अशोकवाटिका मे बन्दिनी सीता के समक्ष रावण अपना प्रस्ताव रखता है कि सीता एक बार उसकी ओर देख ले। जब निराश रावण तलवार उठाकर सीता की ओर बढ़ता है, तब मंदोदरी तुरन्त रावण को समझाते हुए पुरुष की ओर से नारी के प्रति उचित सद् व्यवहार की माँग करती है। मंदोदरी इस सम्बध मे जागरूक है कि रावण सीता के साथ कोई अभद्रता न कर बैठे; इसलिए वह प्रायः रावण के साथ रहती है। रावण जब अशोकवाटिका मे सीता के पास जाता है, तब मदोदरी उसके साथ है। मदोदरी अपने पति को एक उचित और सम्माननीय पुरुष देखना चाहती है। पति के लिए मदोदरी का सकेत है कि नारी का सम्मान करने पर ही पुरुष समाज मे सम्मानित हो सकता है।

क्रोधी तथा अहकारी पति को सही रास्ते पर लाने के लिए मंदोदरी रावण को चार बार समझाती है।

पहली बार मंदोदरी रावण को तब समझाती है, जब हनूमान् लका जलाकर चले जाते है और लंकाधिपति देखता रह जाता है। मंदोदरी चरण छूकर विनयपूर्वक पति से कहती है—

"सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥"

(मानस, सुन्दर०, ३६/१०)

दूसरी बार तब समझाती है, जब श्रीराघवेन्द्र के साथी-सखाओ ने समुद्र का पुल बाँध लिया है। रावण तब भी अपने बल के अहकार-मद में बेहोश है। मंदोदरी विनम्रतापूर्वक पति के चरणो को अचल पट से स्पर्श करती हुई समझाती है कि "पतिदेव! वैर उसी के साथ ठीक रहता है, जिसे बल और बुद्धि मे जीता जा सके। रघुनाथ जी और आप मे बहुत बड़ा अंतर है। रघुनाथ जी एक सूर्य है और आप एक जुगनू है।"

मंदोदरी रावण को जुगनू इसलिए भी बताती है कि जुगनू का प्रकाश पल मात्र को होता है, वह भी रात्रि के अंधकार में। जुगनू का वह प्रकाश अपने लिए ही होता है, अन्य के लिए नहीं। सूर्य का प्रकाश दूसरों के लिए ही होता है और निरन्तर रहता है। जुगनू स्वार्थ का प्रतीक है, सूर्य परमार्थ का।

रामचरितमानस के आधार पर कहा जा सकता है कि रावण सीता स्वयंवर में उपस्थित नहीं होता। स्वयंवरवाले दिन से पहले वह मिथिलापुरी जाता है। उसका साहस नहीं होता कि पिनाक को छू ले। एकनाथकृत मराठी-**भावार्थ रामायण** में उल्लेख मिलता है कि रावण अन्य राजाओं की तरह स्वयंवरसभा में उपस्थित होता है, लेकिन असफल सिद्ध होता है। श्रीराम सफल होते हैं। इस दृष्टि से भी श्रीराम सूर्य हैं और रावण खद्योत है।

श्रीराघवेन्द्र समुद्र के पार लंका की भूमि में सुवेल पर्वत पर डेरा डाले पड़े हैं। श्रीराम ने एक ही बाण से रावण का छत्र एवं मुकुट तथा मंदोदरी के कानों के कुण्डल गिरा दिये और किसी को पता तक न चला। तब तीसरी बार मंदोदरी ने रावण को समझाया। इस बार मन्दोदरी की आँखों में आँसू बहने लगे। पतिव्रता मन्दोदरी ने स्पष्टतः कहा कि "पतिदेव ! श्रीराम से विरोध मत करो। श्रीराम मनुष्य नहीं हैं। आपने ब्रह्मा से यही तो वरदान माँगा है कि मैं मनुष्य के द्वारा न मर सकूँ। श्रीराम वास्तव में विश्वरूप भगवान् हैं, मनुष्य के रूप में"—

"अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥"

(मानस, लंका०, १५ (क)/-)

श्रीराम के दूत अंगद ने रावण के एक पुत्र का संहार कर दिया है। रावण-की सभा में अंगद का पैर भी किसी से टस-से-मस नहीं हुआ, फिर भी रावण अपने बल और सैन्य-सत्ता की डींग मार रहा है। तब चौथी बार मंदोदरी कुछ उत्तेजित होकर कहती है कि "श्रीराम के दूत अंगद का बल आप देख चुके। आपकी आँखों के सामने आपका पुत्र मार दिया गया। आप अपने जिस बल की डींग मार रहे हैं, उसे दुनिया जानती है। उन श्रीराम के छोटे भाई ने धनुष से पतली-सी रेखा खींच दी थी, वह भी तुम से न लाँघी गयी। जिसका छोटा-सा दूत सौ योजन सागर को लाँघकर लंका में आकर आपकी

लका जला गया और आप देखते रह गये । जिन राम के दूतो ने ऐसे बडे-बड़े कार्य किये हैं, उन राम को आप युद्ध मे जीतेगे ? आश्चर्य होता है आपकी बुद्धि पर, पतिदेव ! "

इसी भाव को तुलसी लिखते है—

"रामानुज लघु रेख खचाई । सो नहि नाघेउ असि मनुसाई ॥
पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा । जाके दूत केर अस कामा ॥"
(मानस, लंका०, ३६/२,३)

मदोदरी अन्त में रावण पर सीधी चोट करती है कि "पतिदेव ! यदि आप मे शक्ति होती तो जनक की सभा मे धनुष तोड कर सीता को ब्याह कर लाते। तोडने की तो बात कोसों दूर है, तुमसे वह धनुष तिल भर भी न हटाया गया। यदि सग्राम करने की शक्ति थी, तो तभी श्रीराम से युद्ध करके सीता को जीतकर ला सकते थे। उस समय आपका जो स्वरूप रहा, उससे साफ़-साफ सिद्ध होता है कि आप श्रीराम का कुछ भी नही विगाड सकते और श्रीराम के समक्ष आप अवश्य पराजित हो जाएँगे। ससार मे आपके बाँट अपयश ही आएगा और कुछ नही।"

मन्दोदरी रावण को बार बार समझाती है, लेकिन रावण एक बार भी नही सुनता। सुनी, अनसुनी कर देता है।

रावण मे अहकार के साथ शब्दचातुरी भी है। वह मन्दोदरी से कहता है कि पिनाक मेरे गुरु का धनुष था, इसलिए मैंने नही तोडा। तू जिस राम की बात कहती है, वह तो बेकार का लड़का है, जिसे दशरथ ने घर से निकाल दिया है। स्त्री के विरह मे असहाय बना रोता फिरा और बानरो की खुशामद करता फिरा है।

रावण अहकार का प्रतीक और मन्दोदरी विनय की प्रतीक है। अहकार विनय की सुनता कब है ? अहकार विनय को नगण्य मानता है, इसलिए विनय की कभी सुनता ही नही।

अहंकार दुर्वृत्ति और विनय सद्वृत्ति है। इनमें सामजस्य कैसा ? रावण रजोगुण, कुम्भकर्ण तमोगुण और विभीषण सत्वगुण है। रजोगुण और तमोगुण, तो साथ-साथ रह सकते है, सत्वगुण इनके साथ नही रह सकता। विभीषण मन से कभी रावण या कुम्भकर्ण के साथ नही रहा, किसी तरह मुसीबत के

कुछ दिन काटता रहा, जिस तरह कोई सज्जन दुष्टों के बीच मे क्षणिक समझौता करके दिन बिताता है। वह सज्जन फिर समर्थ सत्वगुणी साथी मिलने पर उन दुष्टों को त्याग देता है। हनूमान् के मिल जाने पर विभीषण ने वैसा ही किया। विभीषण ने श्रीराम की शरण मे जाकर विश्वधर्म का पालन किया, परिवार धर्म को नगण्य बना दिया। विभीषण ने समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान किया था। धर्म की परिभाषा भी यही है।

मन्दोदरी विनीता है, सुशीला है, पतिव्रता है और नीतिज्ञा है। तुलसी 'मानस' (बाल०, १७८/२) मे मयतनया मन्दोदरी को परम सुन्दर एव ललाम नारी बताते है। मन्दोदरी (मन्द+उदरी) मध्येक्षामा है, तन्वगी है। तन्वगी नारी की शरीरयष्टि की सुन्दरता की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी गयी है। कालिदास के 'मेघदूत' की यक्षी भी तन्वगी है। मन्दोदरी सुन्दरता के आलोक मे सूक्ष्मकटिप्रदेशा है। यथा नाम तथा गुण के कारण ही तुलसी ने मन्दोदरी को परम सुन्दरी और ललाम नारी कहा है।

मन्दोदरी श्रीराम के प्रति श्रद्धालु है। वह उनके ब्रह्मरूप को समझती है। इन गुणो के साथ-साथ मन्दोदरी मे एक विशेष गुण यह है कि सच्ची और न्याय की बात वह अपने पति रावण से निर्भीक होकर कह देती है। कहने मे डरती नही।

रावण की मृत्यु हो जाने पर मन्दोदरी रावण की लाश की कुगति देखकर कहती है—

"अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं ॥"

(मानस, लंका०, १०४/१२)

मन्दोदरी परात्पर ब्रह्म श्रीराघवेन्द्र की भक्त है। उसकी भक्ति शान्तभाव की है। उसके उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि जो व्यक्ति अहकार के मद मे किसी को कुछ नही गिनता, जो व्यभिचारी तथा अत्याचारी है, जो ईश्वर से बढकर अपने को सब कुछ मानता है; वह सब को ले डूबता है और मरने पर उसके शरीर की दुर्गति होती है, कुगति होती है। अहकारी तथा व्यभिचारी का शव करुणा का नही, घृणा का ही आलम्बन बनता है।

○○

१२. श्रीराघवेन्द्र : शोभा, शील और शक्ति की विभूति

ज्ञान और **कर्म** साधनाएं हैं, लेकिन **भक्ति** एक भावना है। ज्ञान साधना साधक की व्यक्तिगत साधना है और यह मानव जाति से साधक मानव को पृथक् बिठानेवाली है। कर्म साधना सामाजिक तो है, किन्तु कर्म की ऊँच-नीच से यह समाज को खण्डों मे विखंडित करती है। भक्ति भावना से सम्पूर्ण समाज शीतल छाया मे बैठता है और समाज मे बन्धुत्व का सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्य पूर्ण मानव बनता है। महात्मा तुलसीदास ने अपने '**मानस**' मे त्रिवेणी प्रवाहित की है। '**रामचरितमानस**' की धरित्री पर ज्ञान की सरस्वती, कर्म की यमुना और भक्ति की गगा प्रवाहित हैं। प्रयागराज से आगे जब त्रिवेणी प्रवाहित होती है, तब वह गगा ही कहलाती है। उसी प्रकार तुलसीकृत 'रामचरितमानस' मे ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी बहते हुए भी बाद मे प्रवाह का प्रभाव गगा अर्थात् भक्ति ही प्रमुख रह जाता है। रामचरितमानस के अन्तिम काण्ड अर्थात् उत्तरकाण्ड मे काकभुशुण्डि गरुड से भक्ति की महिमा ही कहते है। भक्तिपरक कथा नीलगिरि पर काकभुशुण्डि कहते है। कैलाशपर्वत पर शकरकथा वक्ता है और पार्वती श्रोता। प्रयागराज पर याज्ञवल्क्य कथावक्ता है और भरद्वाज श्रोता। चित्रकूट पर तो कर्तव्य कर्म पर कई सगोष्ठियाँ ही हुई है, जिनमे महर्षि वशिष्ठ, राजर्षि जनक, श्रीराम तथा भरत ने अपने-अपने मतो का पूर्णत. प्रतिपादन किया है।

गोसाईं तुलसीदास जी की भक्ति साकार सगुण ब्रह्म की सेवा है। तुलसी के राम मूलतः निराकार निर्गुण ब्रह्म होने पर भी संसार के कल्याण के लिए साकार सगुण ब्रह्म बनते हैं और नरावतार लेकर नर-लीला करते हैं। पृथ्वी का भार उतारते हैं। तुलसी के राम साक्षात् विश्वधर्म हैं। उनके चरित्र ही मनुष्य के लिए क्रियाशील धर्म का स्वरूप हैं, क्योंकि वे मर्यादा पुरुषोत्तम भी है।

तुलसी के वे ही साकार सगुण ब्रह्म मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम मानवीय भक्तिभावना के एकमात्र आलम्बन हैं। यह भक्ति भावना वात्सल्य भाव, सखा भाव, स्वामी भाव आदि मे विभक्त है।

तुलसी के 'रामचरितमानस' की प्रस्तावना के चार भाग हैं—(१) मंगलाचरण और वंदना (२) रामकथा की पूर्व परंपरा (३) वक्ता–श्रोता–चरित (४) राम के चार अवतारो की चार कथाएं—जय-विजय चरित, जलधर-वृंदा चरित, नारद चरित और कश्यप–अदिति तथा मनु-शतरूपा चरित एवं भानुप्रताप चरित।

इन चरितो के विभिन्न कल्पो मे रामावतार का उल्लेख किया गया है। तब परात्पर ब्रह्म अपने वचनो के पालन-हेतु श्रीराम के रूप मे कौशल्या के समक्ष प्रकट होते हैं और मर्यादापुरुषोत्तम के रूप मे मानव–चरित करते है। मानवरूप में श्रीराम ने जो कुछ किया, वही उनका व्यक्तित्व है और वही उनका चरित्र है। वैसे मूलत: तुलसी के राम ब्रह्मा, विष्णु और महेश के भी अधिपति है। त्रिदेवो के ऊपर परात्पर ब्रह्म के साथ-साथ श्रीराम विष्णु के भी अवतार है। १६ वी शती के गोस्वामी तुलसीदास के लिए अकबर राजा नही, राम राजा हैं। आगरा–दिल्ली उनके लिए भारत की राजधानी नही, अयोध्या–चित्रकूट राजधानियाँ है। तुलसी के राम ऐसे राजा है, जो सदा संपूर्ण प्रजा के जन–जन के साथ हैं और उनके द्वारा सबका दु:ख दूर किया जाता है।

मनुष्यरूप मे श्रीराम अपने जीवन में मानस के पाठक को तीन रूपो मे दृष्टिगोचर होते है—(१) शोभारूप (२) शीलरूप (३) शक्तिरूप।

गोस्वामी तुलसीदास के मानस–पटल पर श्रीराम की जो प्रातिबिम्बिक छवि है, उसमे शोभा मुख्य रूप से श्रीराघवेन्द्र के बाँट मे आयी है। राजा दशरथ की तीन रानियाँ हैं। बडी रानी कौशल्या के गर्भ मे शोभाधाम श्रीराम है, कैकेयी के गर्भ मे शीलरूप भरत जी हैं और सुमित्रा के गर्भ मे तेज रूप लक्ष्मण जी है। तुलसी लिखते है—

"मंदिर महँ सब राजहि रानीं। सोभा सील तेज की खानीं॥"

(मानस, बाल०, १९०/७)

इसके साथ साथ तुलसी श्रीराम को शील रूप और गुणो में चारो भाइयों

मे सर्वोपरि भी बताते है—

"चरित सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ।।"
(मानस, बाल०, १९८/६)

निर्विशेष शुद्ध कारण ब्रह्म माया रहित है। वह अवतार नही लेता। मायोपहित अशुद्ध कार्य ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। अर्थात् ब्रह्म जब जगत्प्रकाशक और मायापतिरूप में आ जाता है, तब ईश्वर कहलाने लगता है। अवतार ईश्वर ही लेता है। अवतार धारण करने पर राम की सज्ञा 'ईश्वर' हो गयी; इसलिए तुलसी लिखते है—

"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू ।।"
(मानस, बाल०, ११७/७)

तुलसी का यह मत है कि भक्ति के वशीभूत होकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार ब्रह्म अर्थात् ईश्वर बनता है और अवतार लेता है।

शतरूपा को परात्पर ब्रह्म ने जो वरदान दिया था, उसी को साकार करने के लिए कौशल्या के समक्ष भगवान् चतुर्भुजरूप मे शख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हुए प्रकट हुए। तब वह रूप शोभा का सागर ही था। कौशल्या उस रूप को देखकर परम प्रसन्न हुई थी—

"भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप बिचारी ।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ।।"
(मानस, बाल०, १९२/छंद)

तुलसी के राम कौशल्या के समक्ष प्रकट होते समय भी खरारि (खरारी) हैं, यद्यपि अभी खर को मारा नही है। खर को मारने की लीला तो तुलसी के प्रभु पहले भी कई बार कर चुके है, इसलिए खरारी तो है ही। वे खरारी शोभासिन्धु इसलिए भी है कि खर और दूषण जब युद्धक्षेत्र मे आकर श्रीराम के रूप का दर्शन करते है, तब वे उनके सौदर्य पर मुग्ध होकर कहते है—

"जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।।"
(मानस, अर०, १९/५)

शोभा तथा सौंदर्य ही आनन के वास्तविक आकर्षण है। उस आकर्षक के प्रमुखरूप श्रीराम के नेत्रों का दो बार वर्णन है—पहले 'लोचन अभिरामा' कहकर फिर 'नयन बिसाला' कहकर। चतुर्भुजरूप भगवान् के अभिराम और विशाल नेत्रो ने ही उन्हे शोभासिंधु बनाया है।

विदेहराज जनक ब्रह्मज्ञानी हैं; कर्मयोगी है। उन्हे ब्रह्मसुख प्राप्त हो चुका है। विश्वामित्र जी के साथ जनकपुर गयेहुए किशोर श्रीराम का मनोहर रूप देखकर ब्रह्मज्ञानी विदेह विदेह हो जाते है। शरीर की सुध-बुध नही रहती। कुछ क्षणो के उपरांत चेतनता प्राप्त करने पर विदेहराज ऋषि विश्वामित्र जी से निवेदन करते है कि "हे ऋषिवर! ये बालक ब्राह्मण है या क्षत्रिय? इनका रूप देखकर मैं तो ब्रह्मसुख को भी व्यर्थ समझने लगा हूँ।"—

"मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥"
(मानस, बाल०, २१५/८)

× × ×

"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥"
(मानस, बाल०, २१६/५)

किशोर श्रीराम गुरुवर विश्वामित्र की अनुमति पाकर राजा जनक के नगर की शोभा देखने के लिए जा रहे हैं। जनकपुर की नारियाँ उनके रूप-सौन्दर्य को देखकर उन्हें त्रिदेवों से भी अधिक-सुदर बतालाती हैं—

"बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुखपंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिअ जाही॥"
(मानस, बाल०, २२०/७,८)

श्रीराम मगल के सेतु हैं, श्रुतिसेतु है। दो मगल तत्त्वो को मिलाने हेतु उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। कर्मनिष्ठ दशरथ और ज्ञाननिष्ठ जनक का मंगलमिलन श्रीराम के माध्यम से ही होता है। शकर विश्वास और पार्वती श्रद्धा हैं। श्रीराम (विष्णुरूप राम) विवाह कराते हैं शंकर-पार्वती का। अतः श्रीराम विश्वास और श्रद्धा का सम्मिलन कराते हैं, इसीलिए मुनि वाल्मीकि कहते हैं—

"श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।"

(मानस, अयो०, १२६/छद)

वनवासी राम वन-मार्ग मे बटोही बने हुए जा रहे है । ग्रामवधुएँ उनके रूप को करोड़ों कामदेवो से भी बढकर बतलाती हैं । वे ग्राम-वनिताएँ सरल स्वभाव से सीता जी से पूछती हैं कि "हे सुमुखी ! ये दोनो कुमार तुम्हारे कौन लगते हैं ?"

'कोटि मनोज लजावनिहारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥"

(मानस, अयो०, ११७/१)

ग्रामवधुएँ भले ही अशिक्षित हैं, लेकिन भारतीय महिलाएँ हैं, कुलीन हैं । लज्जा, शील, सकोच आदि उनके स्वभाव मे है । वे सीता जी से राम-लक्ष्मण के विषय मे पूछते समय बहुत सकुचा रही हैं । तुलसी लिखते हैं—

"सीय समीप ग्रामतिय जाहीं । पूछत अति सनेहँ सकुचाहीं ॥"

(मानस, अयो०, ११६/४)

जिसने भारतीय नारी-मर्यादा को तिलाजलि दे रखी है, जो मुँहफट है, और पर पुरुष से सीधे-सीधे बातें करने मे जिसे कोई लज्जा-सकोच नही, वह है रावण की बहन शूर्पणखा । वह श्रीराम के समक्ष एकदम आकर अपना प्रस्ताव प्रस्तुत कर देती है । पाश्चात्य सभ्यता की फारवर्ड लेडी है—

"रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली बचन बहुत मुसुकाई ॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह संजोग बिधि रचा बिचारी ॥"

(मानस, अर०, १७/७,८)

वास्तविक सौंदर्य वह है, जो सबको सुन्दर लगे । यहाँ तक कि वैरी तथा विरोधी भी जिस रूप पर मुग्ध हो जाए, वह रूप शोभामय अथवा सौंदर्ययुक्त ही माना जाएगा । श्रीराम के रूप पर खर और दूषण तो मुग्ध हुए ही थे, शूर्पणखा भी मुग्ध है । शूर्पणखा तो राम के रूप—सौन्दर्य से इतनी प्रभावित है कि बड़े भाई रावण के समक्ष भी उस सौन्दर्य का वर्णन मुक्तकण्ठ से करती है—

'सोभा धाम राम अस नामा । तिन्ह के संग नारि एक स्यामा ॥"

(मानस, अर०, २२/८)

प्राणप्रिया सीता जी की इच्छा रखने के लिए सत्यसंध प्रभु हेममृग को मारने के लिए चल दिये। जिन-जिन गति-मुद्राओं के साथ मनोहरमूर्ति श्रीराम दौड़े चले जा रहे हैं, उन्हें देख-देखकर तुलसी मुग्ध होते हैं। श्रीराम जी का हिरन के पीछे दौड़ना, झुकना, लक्ष्यवेध के लिए मृग को देखना तथा पीछे दौड़ते-दौड़ते थक जाना—ये सब क्रियाएँ तुलसी के मानस-पटल पर चित्र की भाँति अंकित हो जाती हैं। उस मृगानुगामिनी मनोहर मूर्ति पर तुलसी का तन-मन निछावर है। वह सुन्दर छवि तुलसी के मन में शाश्वत रूप से समा गयी है। 'गीतावली' में तुलसी अपनी उन भावनाओं को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥"

(गीतावली, अर०, पद० ३)

काकभुशुण्डि जी ने श्रीराम की शिशु क्रीड़ाएँ देखी हैं। राजा दशरथ के अजिरबिहारी शिशुरूप श्रीराम की अपनी शिशु-लीला को काकभुशुण्डि जी देख रहे हैं। काकभुशुण्डि जी श्रीराम के उस शिशुरूप को रूपराशि बताते हैं—

"रूप राशि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी॥"

(मानस, उत्तर०, ७७/८)

तुलसी के राम सुन्दर इसलिए लगते हैं कि उनमें सुन्दरता समाविष्ट है। उनका शरीर सुन्दरता का अधिष्ठान है। तुलसी के मत से सौंदर्य विषयगत है, विषयिगत नहीं। श्रीराम इसलिए सुन्दर हैं कि वह सुन्दर हैं। राम-स्नेही के लिए राम सुन्दर हैं और राम-विरोधी के लिए भी राम सुन्दर हैं। तुलसी के मत में सौन्दर्य वही है, जो सब के मन को हर ले। मनोहरता और सुन्दरता तुलसी के लिए समानार्थी शब्द हैं।

गुलाब के फूल का वास्तविक सौंदर्य वह पूर्णांगी सौंदर्य है, जो गुलाब की जड़, तने, डालियों और पत्तियों के साथ है।

पतिव्रता सुन्दर नारी के शरीर का लावण्य एक ऐसा सर्वांगीण सौन्दर्य है कि वह सौंदर्य उस नारी के अलग-अलग अंगों के सौंदर्य से नितान्त भिन्न होता

है और भारी भी होता है। अंग-सौंदर्य नारी का सौंदर्य नहीं। इसी प्रकार तुलसी के श्रीराम जी का सौंदर्य वास्तव में वह समष्टिगत सौंदर्य है, जो भरत लक्ष्मण, सीता, हनूमान्, दशरथ, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि के चारित्रिक सौंदर्य को समेटकर श्रीराम के चरित्र-शील मे मिलाकर देखा जाता है।

सौंदर्य में शरीर की मनोहरता तो है ही, इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति का बोलना, मिलना तथा विनयसंयुक्त क्रियाएँ भी सुन्दरता में ही आती हैं। श्रीरामभद्र अपनी इन क्रियाओं से वैरियों का भी मन हर लेते हैं। तुलसी लिखते हैं—

"बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥"
(मानस, अयो०, २००/७)

श्रीराघवेन्द्र सुन्दर ही नहीं हैं, सौंदर्य के जन्मदाता भी हैं। 'रामचरितमानस' मे तुलसीदास जी ने 'सागर-मंथन' का प्रसंग रूपक के रूप मे तीन बार प्रस्तुत किया है—प्रथम बार सीता जी के सौंदर्य को बताने के लिए सुन्दरता सुखमूल लक्ष्मी के जन्म के प्रसंग में। द्वितीय बार भरत के प्रेमरूपी अमृत के जन्म के प्रसंग मे। तृतीय बार भक्तिरूपी मधुरता के जन्म के प्रसंग में।

उपर्युक्त तीनो बार के क्षीरसागर-मंथन में भगवान् राम प्रमुख कर्ता हैं। एक प्रकार से भगवान् राम ही क्षीरसागर का मंथन करके उससे सौंदर्य-रत्न, शिवरत्न और सत्यरत्न निकालते हैं।

क्षीरसागर-मंथन के समय १४ रत्न निकले थे। संसार के समुद्रों में प्रायः मोती और मूँगा नाम के रत्न निकाले जाते हैं। चौरासी रत्नों मे नौ रत्न बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) माणिक (२) मुक्ता (३) मूँगा (विद्रुम) (४) पन्ना (मरकत) (५) पुखराज (६) हीरा (वज्र) (७) नीलम (नील) (८) गोमेद (स्टफिक) (९) लहसुनिया (वैदूर्य)। ये नवरत्न नाम से विख्यात हैं।

समुद्र से निकलनेवाले मोतियों में शंखमुक्ता, शुक्तिमुक्ता, आकाशमुक्ता, मेघमुक्ता, और मीनमुक्ता अधिक प्रसिद्ध हैं। मीनमुक्ता चमक और प्रकाश मे इन सब मुक्ताओं से बढ़कर होती है।

नवरत्न	गृहीत उत्तम रंग
(१) माणिक	— (१) गुलाबी रँग (गुलाबी रँग का प्राणरक्षक,

	और श्याम वर्ण का प्राण-नाशक होता है ।)
(२) मुक्ता (मोती) —	(२) सफेद, काला, पीला या लाल आदि ।
(३) मूँगा (विद्रुम) —	(३) लाल रँग
(४) पन्ना (मरकत) —	(४) हलका हरा रँग (इसके धारण करने से सर्पदंश का प्रभाव नही होता)
(५) पुखराज (पुष्पराज) —	(५) पीला रँग
(६) हीरा (कुलिश) —	(६) हलका गुलाबी, हरा या बैंजनी रँग
(७) नीलम —	(७) नीला रँग
(८) गोमेद (स्फटिक) —	(८) पीला, सुर्ख या काला (काले रँग का अशुभ माना जाता है)
(९) लहसुनिया (वैदूर्य) —	(९) श्याम, पीला, काला या सफेद ।

नवरत्नो मे माणिक रत्नराज माना जाता है ।

तुलसी के शब्दो मे प्रथम बार सौंदर्यरत्न तभी निकलता है, जब शृंगार रूप मंदराचल को परमरूपमय भगवान् कच्छप बनकर अपनी पीठ पर साधते हैं अर्थात् मथानी के आधार बनते हैं—

"जौं छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छपु सोई ।।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ।।
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल ।।"

(मानस, बाल०, २४७/७.८)

द्वितीय बार शिवरत्न तभी निकलता है, जब कृपासिंधु रघुवीर अपने हाथो से वासुकिरूपी नेती को चलाते है अर्थात् मथानी के चालक है—

"पेम अमिय मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ।।"

(मानस, अयो०, २३८/-)

तृतीय बार सत्यरत्न तभी निकलता है, जब भगवान् की देख-रेख में देवताओं द्वारा क्षीरसागर मथा जाता है अर्थात् भगवान् भक्तिरूपी अमृत के वितरक बनते हैं

ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं।।"
(मानस, उत्तर०, १२०/-)

इससे सिद्ध है कि तुलसी के राम सुन्दर हैं और सौंदर्य के जन्मदाता भी। उनका सौंदर्य शिव और सत्य से समन्वित है।

त्रेतावतार राम इतने सुन्दर है कि उन्हे देखकर नर-नारी स्वय मुग्ध होते है। द्वापरावतार कृष्ण उतने सुन्दर नही। श्रीकृष्ण को वशीवादन के द्वारा दूसरो को मुग्ध करना पडता है। श्रीराम रूप मे आगे हैं, श्रीकृष्ण कला मे। श्रीकृष्ण गायन, वादन और नर्तन में निष्णात हैं। श्रीराम का सहजरूप में उठना, चलना, देखना आदि ही दूसरो को मोह लेता है—

"ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ। ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ।।"
(मानस, बाल० २५४/८)

× × ×

"सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै।।"
(कविता०, अयो०, छद २१)

श्रीराम का वाह्य ही सुन्दर नही, अन्तस् भी सुन्दर है। भरत जी चित्र-कूट की यात्रा के मार्ग मे गुह से कहते हैं—

"बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं।।"
(मानस, अयो०, २००/७)

उत्तम संकोची स्वभाव का नाम 'शील' है। शील की अभिव्यक्ति विनम्र-वाणी और विनययुक्त क्रियाओ से होती है। श्रीराम अपने मन, वचन, कर्म से कितने शीलवान् हैं—यह उनके बोलने, मिलने और उठने-बैठने से प्रकट हो जाता है। बडे के प्रति श्रद्धा में और छोटे के प्रति स्नेह या वात्सल्य में राम के शील के दर्शन हो जाते है।

श्रीराम को दशरथ द्वारा युवराजपद दिया जानेवाला है। कुलगुरु वशिष्ठ जी राज्याभिषेक से पहले कुछ उपदेश-दीक्षा देने के लिए श्रीराम के आवास पर पहुँच जाते हैं। राम को जहाँ गुरुवर के शुभागमन से प्रसन्नता है, वहाँ गुरु जी के स्वयं आने का मन मे लज्जामय सकोच भी है। श्रीराम गुरुदेव को

प्रणाम निवेदित करते हुए शीलमयी वाणी मे कहते हैं—

"सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू॥"

(मानस, अयो०, ६/५)

राम अपने गुरुदेव वशिष्ठ के प्रति जितना अधिक श्रद्धाभाव रखते हैं, उसे कुछ लोग बहुत ऊँचे चरित्र में संभवतः न भी मानें, क्योंकि अन्य व्यक्ति भी अपने गुरुवरों मे ऐसा भाव रखनेवाले मिल सकते है; किन्तु चक्रवर्ती राजा के उस पुत्र राम मे समता भाव की ऊँचाई की तो प्रशसा करनी ही पड़ेगी, जब बालक राम अपने राजस् भाव की लेशमात्र गध के बिना ही अयोध्या के साधारण समाज के बालको के साथ पूर्ण समता भाव से धूल मे खेलते हैं और मित्रमडली मे खेल का परम आनन्द लेते हैं। इतिहास देखिए, किस सामत के बेटे मे वैसा सच्चा समाजवादी सहज स्वभाव देखने को मिला है ? राजा दशरथ बालक राम को भोजन के लिए बुलाते हैं, लेकिन राम अपने साथियो के साथ खेल में इतने खोये हुए हैं कि मित्रों को छोडकर नही आते—

"भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥"

(मानस, बाल०, २०३/६)

श्रीराम भद्र का शील प्रेमपूर्ण है। कैकेयी के रजोगुणी मन को राम के प्रेमपूर्ण शील ने इतना प्रभावित किया था कि कैकेयी भावी जन्म मे राम को अपना औरस पुत्र चाहती थी। कैकेयी के मातृत्व को भरत का पुत्रत्व सन्तोष प्रदान न कर सका था। राम वस्तुत. प्रेम की साकार जीवन्त मूर्ति हैं। राम सदा मौन रहे और उनका शील-प्रेम-पूर्ण मौन ही माता कैकेयी को प्रभावित करता है। प्रेम वास्तव में मौन ही होता है। नारदभक्तिसूत्र मे कहा भी गया है—

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्" (ना० भ० सू०)

कैकेयी ने श्रीराम भद्र के प्रति जो कहा और जो किया, वह वास्तव मे कैकेयी ने नही किया। वह किया सरस्वती ने अथवा कहिए मथरा ने। रजोगुणमयी तेजस्विनी कैकेयी को अनुरागमयी तथा औदार्यमयी बना देना श्रीराम के प्रेममय शील का ही कारण था। श्रीराम ने सदैव माता कैकेयी को जननी कौशल्या से ऊँचा दर्जा दिया और सम्मान किया।

श्रीराम का अलंकरण सत्य और शील ही है। नीतिज्ञ शिरोमणियो ने

कहा है कि सत्य ही वाणी का वास्तविक भूषण है । श्रीराम ने अपने जीवन में कभी दो बातें नहीं कहीं । वाल्मीकि के राम ने तो स्वयं कहा था —

"रामोद्विर्नाभिभाषते" ।

जहाँ शील है, वहीं करुणा है । श्रीराघवेन्द्र शीलनिधान है और करुणा-सागर भी हैं । गीध जटायु और विभीषण की दशा पर करुणासागर आँसू बहाते है । शरणागतवत्सल श्रीराम को विभीषण के प्राणों की चिन्ता अधिक है । विभीषण की बाँह पकड़ने की टेक कैसे निभेगी, श्रीराम को यही चिन्ता सताती रहती है । रावण की शक्ति विभीषण की ओर आती है, श्रीराम विभीषण को पीछे हटाकर तुरन्त अपनी छाती पर उस शक्ति को लेते हैं । इसीलिए तो श्रीराघवेन्द्र करुणासागर है ।

जिस वृक्ष के नीचे श्रीराघवेन्द्र लेट रहे हैं, उसी वृक्ष की शाखाओं पर शाखामृग उछलते-कूदते हुए किलोल कर रहे हैं और उन्हें देखकर श्रीराम प्रफुल्लित हो रहे हैं । ऊँचा दर्जा कपियों का, नीचा दर्जा श्रीराम का है । यही श्रीराम का शीलनिधानत्व है ।

प्रगाढ़ पुत्र-प्रेम के कारण राजा दशरथ स्वयं राम को वनवास की आज्ञा न दे सके थे । माता कैकेयी से ही राम को वनवास की आज्ञा मिली थी । माता-पिता की आज्ञा का पालन करना, आज्ञाकारी राम ने अपना परम सौभाग्य माना । वह माता कैकेयी से विनम्रतापूर्वक कहने लगे—

"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।"

(मानस, अयो०, ४१/७)

श्रीराम भद्र जब सीता जी तथा लक्ष्मण सहित रथ मे बैठकर वन के लिए अयोध्या से प्रस्थान करते हैं, तब सुमन्त्र के द्वारा हाँके हुए रथ के पीछे-पीछे सारी अयोध्या तमसा (टौंस) नदी तक जाती है । पहला पड़ाव श्रीराम ने तमसा पर ही डाला और रात्रि में अयोध्या के नर-नारियों को सोता हुआ छोड़कर श्रीराम आगे शृंगबेरपुर पहुँचे और गंगा-तट पर पहुँचकर सारथी सुमन्त्र को बिदा कर दिया । तत्पश्चात् केवट ने निषादराज गुह, लक्ष्मण, सीता जी सहित रामचन्द्र जी को नाव से गंगा-पार उतारा ; फिर वाल्मीकि मुनि के दर्शन करके श्रीराम भद्र चित्रकूट पहुँचे ।

श्रीराम भद्र के शील का ही प्रभाव था कि सारी अयोध्या रामचन्द्र जी

के रथ के पीछे पछाल-सी दौड़ी थी। श्रीराघवेन्द्र के शील के कारण ही निषाद कोल, किरात, भील आदि जातियों के मनुष्य उनके सखा और सेवक बन गये थे। बासन-बसन चुरानेवालों ने भी हृदय से अपने को श्रीराम की सेवा में समर्पित कर दिया था। शील वही श्लाघनीय है, जो संपर्क से कठोर को कोमल और असत् को सत् बना देता है।

चित्रकूट पर जब माता कैकेयी पहुँचती हैं, तब भी राम माताओं में सर्वप्रथम माता कैकेयी से चरण-स्पर्श करके मिलते हैं। तब राम अपने शील से, अपने सरल स्वभाव से और अपने भक्तिभाव से माता कैकेयी को आर्द्र कर देते हैं।

अयोध्या विचारभूमि और चित्रकूट भावभूमि है। चित्रकूट में राम-भरत के प्रेमाद्वैत के दर्शन किये जा सकते हैं। प्रेमाद्वैत में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का नाश हो जाता है। ज्ञानी ज्ञान से जिस ब्रह्मात्मैक्य को प्राप्त होता है, योगी योग से निर्विकल्प समाधि के अन्तर्गत जिस अद्वैतावस्था को प्राप्त करता है, उसे प्रेमी प्रेम से प्राप्त कर लेता है। राम-भरत मिलन चित्रकूट पर प्रेमाद्वैत की अनुभूति का संकेत करता है—

"परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई।।"

(मानस, अयो०, २४१/२)

प्रेमाद्वैत की स्थिति में तुलसी प्रेम न लिखकर पेम लिखना ही अधिक उपयुक्त मानते हैं, क्योंकि 'र्' कठोर ध्वनि है।

श्रीराम ने जनकराज की सभा में शिव के पिनाक को तोड़ दिया है। परशुराम धनुष टूटने की ध्वनि सुनकर वहाँ आते हैं और रंगभूमि में उपस्थित राजाओं के समक्ष अपना क्रोध व्यक्त करते हैं। सब राजा भयभीत हैं। कोई कुछ बोलता नहीं। तब राम ही विनयपूर्वक शीलमयी वाणी में परशुराम से निवेदन करते हैं—

"नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा।।"

(मानस, बाल०, २७१/१)

रावणवध के उपरांत विभीषण को लंका का राजा बनाकर श्रीराम श्रद्ध सीता जी, लक्ष्मण जी, सुग्रीव, विभीषण, अंगद, हनुमान्, नल, नील और जाम्बवंत सहित पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या आ रहे हैं। अयोध्या में भरत जी के पास हनुमान् द्वारा समाचार भेज दिया गया है कि राम आ रहे

हैं। इस शुभ समाचार को सुनकर अयोध्या का सारा समाज श्रीराम के दर्शनों के लिए दौड़ पड़ा। जो जिस स्थिति में था, वह वैसे ही दौड़ चला। युवतियाँ बालकों को साथ नहीं लगातीं और युवक बूढ़ों को साथ नहीं लगाते। सब को अपनी-अपनी पड़ी है। अयोध्या का जन-समुद्र एक साथ उमड़ पड़ा है। सबसे आगे धर्माचार के पुरोधा कुलगुरु मुनि वशिष्ठ जी हैं। श्रीराम ने लक्ष्मण सहित सबसे पहले कुलगुरु श्रद्धेय मुनिवर श्री वशिष्ठ जी के चरणों में दौड़कर प्रणाम किया और अपने साथियों को गुरुदेव का परिचय दिया कि ये हमारे पूज्य गुरुदेव श्री वशिष्ठ जी हैं। इनकी ही कृपा से हम राक्षसों के नाश में सफल हुए हैं—

"गुर बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ।।"

(मानस, उत्तर०, ८/६)

इसके उपरांत सुग्रीव, विभीषण, अंगद, हनुमान् आदि का परिचय देते हुए श्रीराम भद्र गुरुदेव से निवेदन करते हैं—

"ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे ।।"

(मानस, उत्तर०, ८/७)

तुलसीदास का 'मानस' केवल रामकथा का ग्रन्थ ही नहीं है। वह हमारी भारतीय संस्कृति की आचार-संहिता का आदर्श-ग्रंथ भी है। श्रीराम भद्र अपने सखाओं को पहले गुरुदेव वशिष्ठ जी का परिचय देते हैं, तदुपरांत मुनि वशिष्ठ जी को सखाओं का परिचय देते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि जब दो व्यक्तियों का पारस्परिक परिचय कराया जाता है, तब बड़े तथा आदरणीय व्यक्ति का परिचय पहले कराना चाहिए। कुलगुरु मुनि वशिष्ठ पूज्य हैं, बड़े हैं, इसलिए राम उनका परिचय पहले कराते हैं, तदुपरान्त सखाओं का।

श्रीराम भद्र का शील दूसरों को आदर और गौरव देना जानता है। लंका की विजय का श्रेय गुरुदेव श्री वशिष्ठ जी को तथा सुग्रीव, विभीषण, हनुमान् आदि को है। श्रीराम भद्र की इस परश्रेयदायिनी विनय-शीलभरी वाणी से कौन गद्गद न होगा। राम का यही शील है, जो दूसरों के मन को जीत लेता है।

श्रीराम भद्र अपने वन्य सखाओं से सहज प्यार करते हैं। उन्हें आदर देते हैं। उन्हें इतना अधिक मान देते हैं कि अपने को बहुत छोटा बना लेते हैं।

यही शीलनिधानत्व है। भगवान् श्रीराघवेन्द्र के इस शीलनिधानत्व का गुणगान तुलसी मानस (बाल०, दो०, २६ (क)/–) में और दोहावली (दो०, ५०) में करते हैं—

"प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥"
(मानस, बाल०, २६(क)/- ; दोहावली, दो० ५०)

इसी शील के कारण वनवासी राम ने सैकड़ों वानरों को अर्थात् वन की जातियों को अपना बना लिया था। वे वन्य जातियाँ राम के लिए प्राण देती थीं। 'वन' के समूह को 'वान' कहते हैं। वन–समूह में जीवन बितानेवाले को वानप्रस्थी कहते हैं। वन–समूह में जो जीवन बीतता है, वह वानप्रस्थ आश्रम कहलाता है। वन-समूह में जीवन बितानेवाली जाति वानर कहलाती है। उसी अशिक्षित वन्य जाति के मनुष्यों को राम ने अपने शील से अपना प्रेमी बना लिया था। वन्य जातियाँ ही नहीं, श्रीराम भद्र के शील का ऐसा प्रभाव था कि वैरी भी श्रीराम की बड़ाई करते थे। उनका विनयपूर्ण शील उनकी वाणी से तथा उनके मिलने से व्यक्त हो जाता था। तुलसीदास जी ने श्रीराम के शील की अभिव्यंजना एक अर्धाली में इस प्रकार प्रकट कर दी है—

"बैरिउ राम बड़ाई करहीं।
बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥"
(मानस, अयो०, २००/७)

सभी वानर राम के सेवक बन गये थे। वे सभी अपने को राम का सेवक मानते थे, लेकिन राम उन्हें अपना प्रिय सखा मानते थे। सुग्रीव, विभीषण आदि सब राम के सखा थे। जब श्रीराम ने गुरुदेव श्री वशिष्ठ जी से यह कहा होगा कि "गुरुदेव! ये सब मेरे सखा हैं और इनके कारण ही मैं समर-सागर को पार कर सका हूँ। समर–सागर में मेरे ये सखा बेड़े बने हैं", तब उन सखाओं के मन में कितने हर्षानंद की लहरें उठी होंगी, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। छोटा जब बड़े से आदर पाता है प्यार पाता है तब गद्गद हो जाता है प्राण दे देता है

के सम्बन्ध में कहते हैं—

"बैरिउ राम बड़ाई करहीं।
बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥"
(मानस, अयो०, २००/७)

मानस में उन स्थलों को पढ़कर पाठकों को भी वैसा ही और उतना ही आनन्द प्राप्त होता है। कृतिकार गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा जो कृतिगत अभिव्यक्ति हुई है, वह औदात्य है और पाठक-पक्ष में उस औदात्य से जो उपलब्धि है, वह आनन्द है। उदात्त वाणी उदात्त आत्मा से ही निकल सकती है। तुलसी एक महान् उदात्त आत्मा हैं। अतः उस उदात्त आत्मा के राम तथा उन राम के सौन्दर्य, शील और स्वभाव औदात्य के आदर्श हैं।

हनूमान् के उपकारों का बदला चुकाने में श्रीराम भद्र अपने को असमर्थ ही पाते हैं। वे सदा हनूमान् के ऋणी ही रहना चाहते हैं। सीता जी का पता लगाकर आनेवाले कपीन्द्र पवनपुत्र से अश्रुपूरितपुलकतन श्रीराम बड़े स्नेहपूर्वक तथा सकोच-शील सहित आभार स्वीकारते हुए कहते हैं—

"प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।
सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥"
(मानस, सुन्दर०, ३२/६,७)

श्रीराम पुष्पक विमान मे से सीता जी को लंका की युद्धभूमि दिखाते हुए कहते हैं—

"कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हत्यो इँद्रजीता॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे॥
कुंभकरन रावन द्वौ भाई। इहाँ हते सुर मुनि दुखदाई॥"
(मानस, लंका०, ११६/६-११)

श्रीराम के इस उपर्युक्त कथन में कितना शील है—इसका पता 'हते' क्रिया से लगता है। यह कर्मवाच्य की क्रिया है, जिसमे कर्म प्रधान होता है, कर्ता नही। श्रीराम कहते है कि "हे सीते! यहाँ देवता और मुनियो को सतानेवाले रावण और कुंभकर्ण मारे गये।" किसने मारे? यह बात राम के कथन से व्यक्त नही है। स्पष्ट है कि श्रीराम में अहंकार का लेश नहीं है। निरहंकारिता राम का शील बन गयी है। श्रीराघवेन्द्र युद्ध-विजय का श्रेय

लक्ष्मण, हनूमान् और अगद को दे रहे हैं। प्रथम दो अर्द्धालियों में कर्ता लछिमन और हनूमान्–अगद का साफ-साफ उल्लेख है, लेकिन रावण-कुंभकर्ण को मारनेवाले व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं है।

'श्रीराम उपनिषद्' के आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि भरत जी मे जो शील है, वह श्रीराम का ही शील है, क्योंकि सब देवता और भरत आदि राम के ही अग हैं।

शील के साथ शक्ति न हो, तो शील शोभा नहीं पाता। शक्तिहीन व्यक्ति का शील समाज में कायरता का पर्याय बन जाता है। राम में शील होता, लेकिन शक्ति न होती, तो राम का शील अभिनदनीय न बनता। राम का शील इसीलिए वदनीय और अभिनन्दनीय है कि राम शक्तिशाली है। उनकी शक्ति अहकारी तथा अत्याचारी के लिए अपना उग्र रूप लेकर भी आती है।

शील स्वभावगत होता है। उडना पक्षी का शील है। तैरना पशु का शील है। आत्मगत मृदुता जो स्वभाव बन जाती है, परमशील कहाती है। विनय, दया, सत्य आदि जब स्वभाव बन जाते हैं, तब शील कहलाते है, तब वह व्यक्ति विनयशील, दयाशील, सत्यशील बनता है।

मानव के सद्गुण जब तक मन, वचन और कर्म में समाविष्ट रहते है, तब तक उन्ही नामों से पुकारे जाते हैं। विनय-गुण जब तक मनोगत है, तब तक विनय है। जब वह गुण आत्मगत हुआ, स्वभाव मे शाश्वतरूप से समा-गया, तब समझिए कि वह विनय शील बन गयी। सत्य बात कभी कभी मुख्य अवसरो पर बहुत-से मनुष्य कह दिया करते है, वह सत्य 'शील' नही। सत्य जब आत्मा मे समाविष्ट होकर स्वभाव बन जाता है, तब सत्य 'शील' कहलाता है। साधु और सज्जन मे यही अन्तर है, कि साधु के सब सद्गुण शीलरूप होते है। परोपकार साधु का शाश्वत स्वभाव है। इसी साधुत्व पर कैकेयी चोट करते हुए दशरथ से कहती है—

"राम साधु तुम्ह साधु सयाने।"　　　　(मानस, अयो०, ३३/७)

सत्य जब शील बन गया, तब समझिए कि दृढ़ ध्वजा पर पताका फहराने लगी। तुलसी लिखते हैं—

"सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका"　　　　(मानस, लंका०, ८०/५)

शीलवान् सदा आदरणीय होता है। यदि कोई आदर खो देता है, तो

समझिए, शील भी खो दिया गया। सती बिना बुलाये पितृगृह जाना चाहती है। शकर कहते है—

"जो बिनु बोलें जाहु भवानी। रहइ न सील सनेहु न कानी॥"
(मानस, बाल०, २/४)

अहंकारी तथा क्रोधी परशुराम जी को भी श्रीराम गोपनीय रूप से विनय भरी वाणी मे अपनी निर्भयता और शक्ति का सकेत दे देते है। श्रीराम भद्र परशुराम जी से कहते है—

"अभय होइ जो तुम्हहि डेराई"— (मानस, बाल०, २८४/५)
(हे विप्रवर ! जो अभय होता है, वही तुमसे डरता है।)

वाल्मीकिरामायण (अर०, सर्ग २६/६) के अनुसार दूषण खर का सेनापति है। भागवत (स्कध/अ० १०/६) के अनुसार दूषण खर का भाई है।

श्रीराम ने खर-दूषण को युद्ध मे ललकारते हुए कहा था—

"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥
रिपु बलवत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥"
(मानस, अर०, १९/९,१०)

खर और दूषण से युद्ध करते समय श्रीराम की बाण-सचालन-क्रिया के सम्बन्ध मे तुलसी लिखते है—

"तब चले बान कराल। फुकरत जनु बहु व्याल॥
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥"
(मानस, अर०, २०/छद १)

श्रीराम के रणयोद्धा के प्रचण्ड रूप को शूर्पणखा ने भी देखा होगा, जब वे खर-दूषण से युद्ध कर रहे थे। शूर्पणखा अपने भाई रावण से राम की शक्ति का उल्लेख करते हुए कहती है—

"देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना॥"
(मानस, अर०, २२/६)

शूर्पणखा को वे ही राम काल—समान दिखायी दिये थे, जो पहले उसकी आँखों में शोभाधाम रूप मे समा चुके थे। यही तो श्रीराम की सौन्दर्यमयी शक्ति है।

सुग्रीव के संतोष के ही लिए श्रीराम ने अपनी शक्ति का किञ्चिन्मात्र परिचय दिया था। दुंदुभि राक्षस की हड्डियों को और ताल वृक्षों को उन्होंने बिना प्रयास के ही ढहा दिया था। वाल्मीकिरामायण में उल्लेख है कि जिस दुंदुभि राक्षस को बालि ने अपने दोनों हाथों से एक योजन फेंका था, उस दुन्दुभि को राम ने खिलवाड़ में ही अपने पैर के अँगूठे से दस योजन दूर फेंक दिया था।

श्रीराम भद्र में दंभ नहीं, अहंकार नहीं; विनय है, शील है। वे दूसरे के मद या अहंकार को सहन भी नहीं कर सकते। सुग्रीव राजपद पाकर मद में स्वकर्तव्य भूल गया। श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मण से कहते हैं "लक्ष्मण ! सुग्रीव ने मुझे भुला दिया है। वह राजमद में चूर है। उसका मद मुझे असह्य है। जिस बाण से बालि मारा गया है, उसी बाण से उस मूढ को भी समाप्त कर सकता हूँ।"

जड़ एवं अहंकारी समुद्र के प्रति विनय करते-करते श्रीराम को तीन दिन व्यतीत हो गये। प्रतीक्षा की भी कोई सीमा होती है। राम के भुजदण्ड धनुष-बाण उठाने के लिए विवश हो गये। श्रीराम ने अपने धनुष की प्रत्यंचा पर बाण का संधान किया ही था कि समुद्र में से ज्वाला उठने लगी। श्रीराम के अग्निबाण के संधान का ही इतना प्रभाव था। उसके छोड़ने पर न मालूम क्या दशा होती ?

राम-रावण-युद्ध के समय रावण ने जो शक्ति विभीषण पर चलायी थी, उसे राम ने अपनी छाती पर झेला था और तब विभीषण को श्रीराम ने पीछे कर दिया था, स्वयं आगे आ गये थे—

"तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।।
(मानस, लंका०, ९४/२)

रावण को मारने के लिए श्रीराम ने धनुष की प्रत्यंचा पर एक साथ ३१ बाण चढ़ाकर ऐसी शीघ्रता, शक्तिमत्ता तथा हस्तलाघव से छोड़े थे कि उन काल-फणीश बाणों से रावण का शरीर खण्ड-खण्ड हो गया। बीस बाणों से बीस भुजाएँ, दस बाणों से दस सिर तथा एक बाण से नाभि-कुंड का अमृत समाप्त किया गया। राम की शक्ति तब साकार कालरूप शेषनाग में परिवर्तित हो गयी थी। तुलसी लिखते हैं—

"खैंचि सरासन श्रवन लगि छाड़े सर एक तीस ।
रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस ॥"
(मानस, लंका०, १०२/-)

मानस के लंकाकाण्ड के आदि में गोस्वामी तुलसीदास श्रीराम को काल-रूपी मत्त हाथी के लिए सिंह तुल्य बताते हैं । श्रीराम के धनुष को काल की उपमा देते हैं । इनसे श्रीराम के शक्तिरूप का ही संकेत मिलता है । श्रीरामभद्र का यह शक्तिस्वरूप इसलिए वंदनीय है कि उसमें शील एवं सौन्दर्य का सुयोग है ।

तुलसी-मानस के श्रीराम मानव-चरित्र, महाशोभा, महाशील और महाशक्ति से समन्वित तो है ही; वे ही श्रीराम उस महासौंदर्य, महाशील और महाशक्ति की आदर्श-विभूति भी हैं ।

काकभुशुण्डि गरुड़ से राम के सहज स्वभाव के सम्बन्ध में कहते हैं कि "श्रीराम गर्वप्रहारी है ।" उन्होंने नारद, खर-दूषण, बालि, रावण, आदि का गर्व नष्ट किया था—

"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥"
(मानस, उत्तर०, ७४/५)

श्रीराम का सौन्दर्य भौतिक आँखों का मांसल सौंदर्य नहीं है, वह एक ऐसा अलौकिक दिव्य सौंदर्य है, जो शुद्ध मानव की शुद्ध आत्मा का कल्याणकारी आलम्बन है । वह दिव्य अलौकिक सौन्दर्य तब और भी अधिक दिव्यतम बन जाता है, जब द्रष्टा उसमें शील और कल्याणकारिणी शक्ति का समन्वय भी देख लेता है । वह शक्ति हमारे शरीर तथा आत्मा का परम कल्याण करती है। राम के सौंदर्य में शक्ति शिवत्वसमन्वित है ।

मनुष्य में एक शक्ति और होती है, जिसे आन्तरिक निर्भयता या तपस्या कह सकते हैं । श्रीराम उसी तपस्यावाले तपस्वी हैं । मनुष्य की सबसे बड़ी आन्तरिक तपस्या है कि वह अपने अन्दर जैसा अनुभव करे, उसे वैसा ही सहज रूप में अभिव्यक्त कर दे । श्रीराम लक्ष्मण से सीता जी के विषय में मन की अनुभूति स्पष्टतया कह देते हैं—

"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥"
(मानस, बाल०, २३१/३)

×　　　×　　　×

"घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥"
(मानस, किष्कि०, १४/१)

रामचरितमानस के अयोध्याकाड के प्रारम्भ में तुलसी ने एक श्लोक लिखा है, जिसमे राम के सौन्दर्य, शील और शक्ति का एक साथ चित्राकन हुआ है। तुलसी लिखते हैं—

"नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं,
सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं,
नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥"
(मानस, अयो०, श्लो० ३)

श्रीराम नीलकमल के समान श्यामल और कोमल हैं—इससे राम के सौंदर्य का संकेत मिलता है। श्रीराम शीलवती सीता जी को वामाग में लेकर सुशोभित हैं—इससे श्रीराम के शील का संकेत मिलता है। श्रीराम के हाथ मे धनुष-बाण है—इससे श्रीराम की शक्ति का सकेत मिलता है। शोभा, शील और शक्ति के समन्वयात्मक स्वरूपवाले ऐसे रघुवशनाथ श्रीराम को तुलसी प्रणाम करते हैं।

○○

१३. प्रेमपीड़ा से परमाकुल प्रेममूर्ति भरत

जिस विधाता को महान् से महान् और प्रिय से प्रिय व्यक्ति के प्राणान्त पर लेशमात्र भी दु ख नही होता, उसे निष्ठुर कौन न कहेगा ? उसी निष्ठुर विधाता ने जब जन्म के समय भरत के भाग्य-भाल मे 'विरह' शब्द लिखा, तब कराहते हुए इस शब्द को लिखते समय विधाता की आंखो से भी बरबस १४ आंसू टपक पडे। 'विरह' किसी प्रिय की परोक्ष स्थिति से उत्पन्न वेदना ही नही है, अपितु परमप्रिय को यदि उसका प्राप्य किसी प्रकार प्राप्त न हो तो प्रेमी को जो मानसिक महापीड़ा होती है, उसे भी 'विरह' ही कहा जाता है।

जो व्यक्ति निरन्तर १४ वर्ष तक विरह की भीषण अग्नि में तपता-तडपता रहा हो, उसे कौन प्रेमी, तपस्वी, और भक्त न कहेगा। इसी दृष्टि से भरत तुलसी की दृष्टि मे प्रेमी है, एक तपस्वी है और एक भक्त हैं। श्रीरामचन्द्र जी की बात जाने दीजिए, वे तो तुलसी के अपने स्वामी हैं, परात्पर ब्रह्म हैं, अखिलब्रह्माण्डनायक है और लीलाधारी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। श्रीराघवेन्द्र के बाद यदि कोई व्यक्ति तुलसी के लिए परम पूज्य, परम श्रद्धेय, परम वद्य और परम प्रिय है, तो वह भरत हैं। 'मानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ मे गोस्वामी तुलसीदास चारो भाइयो मे प्रथम प्रणाम श्री भरतलाल के ही चरणो मे निवेदित करते है —

"प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥"

(मानस, बाल०, १७/३)

अग्रज श्रीराघवेन्द्र के आदेशानुसार इधर भरत १४ वर्ष तक नृदिग्राम मे नियमो और व्रतो का पालन करते रहे और उधर राघवेन्द्र १४ वर्ष वनो मे बिताते रहे। भरत के हृदय रूपी गभीर क्षीरसागर को यदि रघुवीर श्रीराम विरह के मंदराचल से न मथते, तो प्रेमरूपी अमृत उत्पन्न न होता। साराश

यह कि संसार उस प्रेमरूपी अमृत से वंचित रह जाता। भरत के उस १४ वर्षीय जीवन की व्यथा की कथा ने ही सासारिक प्राणियों के समक्ष प्रेम के स्वरूप को, प्रेम की ऊँचाई को और प्रेम की समुज्ज्वलता को समुपस्थित किया है।

क्षीरसागर-मंथन के समय समुद्र मे से चौदह रत्न निकले थे। जिनमे पहला विष और अन्तिम अमृत था। वे १४ रत्न इस प्रकार थे—(१) **विष** (२) **कामधेनु** (३) **उच्चैःश्रवा घोड़ा** (४) **चन्द्रमा** (५) **ऐरावत हाथी** (६) **कौस्तुभ मणि** (७) **कल्पवृक्ष** (८) **रम्भा अप्सरा** (९) **लक्ष्मी** (१०) **वारुणी** (११) **शार्ङ्ग धनुष** (१२) **शंख** (१३) **धन्वन्तरि** (१४) **अमृत**।

भगवान् राघवेन्द्र जब विरहरूपी मदर पर्वत की रई से भरत के हृदयरूपी क्षीरसागर को मथने लगे, तव उसमे से भी १४ रत्न प्रादुर्भूत हुए, जो मानव के जीवन के लिए महान् रत्न हैं अर्थात् जीवन-मूल्य है। प्रेममूर्ति भरत के १४ गुण ही जीवन के १४ महान् रत्न है—

(१) **क्रोध** (कैकेयी के प्रति) (२) **नियम** (३) **व्रत** (४) **दैन्य** (५) **शील** (६) **प्रीति** (७) **महामहिमा** (८) **नति** (९) **विनय** (१०) **बड़ाई** (११) **भ्रातृत्व** (१२) **भक्ति** (१३) **भरोसा** (१४) **भलाई**।

कवि-मानस का प्रातिविम्बिक आलम्बन यदि अपार और असीम होता है, तो उससे सम्बद्ध भावो के पारावार को कवि की वाणी या लेखनी शब्दो मे बाँध नही पाती। तब उन विराट् भावों के समक्ष शब्द बौने बने हुए असमर्थता ही प्रकट करते हैं। भरत के सम्बन्ध मे सही-सही कहने मे तुलसी भी असमर्थ हैं। उस असमर्थता की स्थिति में तुलसी ने भरत की प्रीति, प्रणति और विनय के विषय में जो कुछ थोड़ा-सा कहा है, उससे कुछ अनुमान ही लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि तुलसी ने जो राई भर कह दिया, भरत की प्रीति, प्रणति और विनय उस कथन की तुलना मे पर्वत के समान है। गोस्वामी तुलसीदास स्पष्ट शब्दो में स्वीकार करते हैं कि—

'भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥"
(मानस, अयो०, ३०३/४)

तुलसी के लिए तो भरत की प्रणति और भरत की विनय अवर्णनीय हैं फिर भरत की प्रीति तो नितान्त ही है भरत की प्रीति से तात्पर्य

है, भरत का प्रेम राम के प्रति और राम का प्रेम भरत के प्रति। अर्थात् प्रेम-गगा का उभयदिशीय प्रवाह। भरत की प्रणति और विनय मे तो भरत आश्रय और राम आलम्बन हैं; लेकिन भरत–प्रीति मे भरत और राम — दोनों आश्रय भी है और आलम्बन भी। आश्रय भरत के साथ तादात्म्य करके तुलसी श्रीराम के प्रति प्रेम–भाव की राईभर अभिव्यक्ति करने का कुछ साहस भी करे, तो कुछ संभव भी है; लेकिन आश्रय श्रीराम के साथ तुलसी का तादात्म्य स्थापित करना और आलम्बन भरत के प्रति प्रेमभाव की व्यजना करना नितान्त असभव है। इसलिए तुलसी साफ-साफ कह देते है कि भरत की प्रणति, विनय और प्रीति का वर्णन करना कठिन है। बस उसका सुनना ही सुखद है।

प्रेममूर्ति भरत की प्रीति, प्रणति और विनय का वर्णन इसलिए भी कठिन है कि इन तीनो में भरत के शील का संमिश्रण है। महाकवि तुलसी ने राम की शोभा, भरत के शील और लक्ष्मण के तेज का वर्णन गर्भवती रानियो के सदर्भ में किया भी है—

"मंदिर महँ सब राजहि रानीं। सोभा, सील, तेज की खानीं।।"
(मानस, बाल०, १९०/७)

कैकेयी ने राजा दशरथ से वरदान माँगकर जब राम को वनवास दिया था, तब भरत अयोध्या मे न थे। वाल्मीकिरामायण और रामशर्मनुकृत अध्यात्मरामायण मे उल्लेख मिलता है कि जब चारो भाई विवाहित होकर अयोध्या में रहने लगे, तब केकयनगर से अश्वपति के पुत्र युधाजित् अर्थात् भरत के मामा अयोध्या आकर भरत–शत्रुघ्न को उनकी ननसाल लिवा ले गये थे। भरत की अनुपस्थिति मे ही श्रीराम को वनवास दिया गया। ननसाल से आने पर भरत को अपनी माता के क्रूरकर्म का पता चला था।

भरत १४ वर्ष तक ही नही जीवन भर बिसूरते रहे कि मैं उस माँ के गर्भ से पैदा हुआ हूँ, जिसने निर्दोष राम को वनवास दिया। मेरी माँ के कारण ही श्रीराम, सीता और लक्ष्मण वन-वन मारे-मारे फिरे। पैदल ककडों, पत्थरो और काँटो पर चले, कंद-मूल-फल खाते रहे और घास–पात के बिछोने बिछाकर धरती पर सोते रहे। जिन श्रीराम की प्रीति का मैं बालकपन से आलबन रहा, उन्हे बदले मे भरत ने ककड, पत्थर और काँटे दिये। अपनी माँ कैकेयी द्वारा किए हुए क्रूर व्यवहार से भरत इतने सन्तप्त रहे कि फिर अपनी जन्मदात्री माता से जीवनपर्यन्त **'माता'** कहना ही छोड दिया।

भरत को बाल्यकाल के खेलो की याद बार–बार आती है। खेल मे दो

टोलियाँ बन जाती थी, एक टोली राम–लक्ष्मण की और दूसरी टोली भरत-शत्रुघ्न की। भरत को हारता हुआ देखकर राम प्यारे भइया भरत को जिताने के लिए स्वयं हार जाते थे। भरत को बडे भइया श्रीराम की इस परम प्रीति की गहन अनुभूति खेलों मे कई बार हुई थी। उसी श्रद्धेय परम प्रिय भइया श्रीराम से भरत की माता भरत के लिए अयोध्या की राजगद्दी मांगे और गद्दी के अधिकारी राम को १४ वर्ष तक वन–वन मे भटकावे। अयोध्या की सम्पूर्ण प्रजा का ऐसा समझना स्वाभाविक है कि माता कैकेयी की सारी करतूति के पीछे भरत का षड्यन्त्र होगा। भरत के उकसाने पर ही कैकेयी ने अयोध्या की राजगद्दी का प्रश्न राजा दशरथ के सामने रखा होगा। भरत को इन बातो का समाधान नही मिल रहा है; इसलिए भरत का मन दिनो-दिन बिसूरता है, सिसकता है और आँसू बहाता है। वह बार-बार विधाता को कोसते है कि क्रूर विधाता! तू यदि मुझे कैकेयी की कोख मे जन्म न देता, तो अच्छा होता। न मालूम मेरे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं, जिनके कुफल-स्वरूप कैकेयी मेरी जननी बनी। मेरे सुकर्म थे कि सूर्यवंश मे मेरा जन्म हुआ, दशरथ मेरे पिता हुए, श्रीराम–लक्ष्मण–से मेरे भाई हुए, लेकिन कोई एक बड़ा भारी पाप मुझसे पूर्वजन्म में अवश्य हुआ, जिसमे कैकेयी मेरी जननी हुई। क्या कहूँ और क्या करूँ—विधाता से किसी का वस नहीं चलता। अपने मन की सच्ची बात भी यदि मैं अयोध्यावासियो के सामने कहूँ भी, तो कौन विश्वास करेगा? उनका विश्वास न करना, ठीक भी है। भरत उसी कैकेयी का ही तो बेटा है। संसार मे सदा सब देखते है, जैसी माँ, वैसा बेटा। दुनिया के लोगों का यह समझना भी ठीक है कि चालाक भरत माँ को उकसाकर चुपके से ननिहाल चला गया, ताकि कोई भरत पर सदेह न करे। दिन-रात भरत यही सोचते रहते हैं। ननसाल से अयोध्या आ गये है। माता कैकेयी से सारा समाचार मिल गया है। पिता स्वर्गवासी हो गये हैं। अयोध्या सूनी-सूनी-सी हो गयी है। कैकेयी को छोड़कर सभी माताएँ और परिवारीगण दुखी हैं। सब चिंता-निमग्न हैं। अयोध्या की प्रजा भरत की ओर देख तो लेती है, किंतु कुछ कहती नहीं। प्रजाजनों के संकेतो से भरत को ऐसा लगता है कि वे उन सकेतों द्वारा यह कह रहे हैं कि यही है सारे अनर्थों का मूल रानी कैकेयी का बेटा भरत, जिसके लिए कैकेयी ने अयोध्या का राज्य माँगा है और राम को १४ वर्ष के लिए वन भेजा है। प्रजाजनो के वे संज्ञापन भरत के हृदय में बाणो की भाँति लगते हैं। भरत ग्लानि के कारण धरती में समाना चाहते हैं, पर धरती जगह नहीं देती

भरत अपनी माता कैकेयी की करतूतो को उसी के मुख से सुनकर अपने को धिक्कारते हुए आगे बढे, तो माँ कौशल्या को विवर्ण, कृशगात्र, तथा मलिन-वसन रूप में देखा। उनके शरीर की दशा ऐसी थी, मानो कनक-कल्पलता तुषार के प्रहार से मारी गयी हो। भरत को देखकर माता कौशल्या बेटे भरत से मिलने के लिए दौडी, किन्तु दुर्बल-क्षीण शरीर के कारण धरती पर गिर पडी। तब भरत अपने मन मे अपने को ही सारी आपदाओ और विपदाओ का कारण मानने लगे। मन में बिसूरते हुए और अपने को धिक्कारते हुए माता कौशल्या से कहने लगे कि "माता! ससार मे मुझसे अधिक कोई अभागा नही है। रघुवंश के केतु भ्राता राम जी को वन भेजने में, पिताजी के परलोक-वास में और माता! तुम्हारी इस वर्तमान शारीरिक एव मानसिक दशा मे मूल कारण यह अभागा भरत ही है। सारे दु:खों की जड यह भरत है। अभागिनी जननी कैकेयी की कोख से जन्मा यह अभागा भरत इस रघुवश-रूपी वन को जलाने मे भीषण दावाग्नि बना है। माँ! यह भरत ससार में अब मुँह दिखाने के योग्य नही रहा।"

ऐसी दीन-हीन वाणी के साथ भरत ने माता कौशल्या के चरणो मे अपना माथा टेक दिया।

सिकुडे, सहमे और महाग्लानि के बोझ से दबे हुए भरत माता कौशल्या के चरणों मे प्रणाम कर रहे है। वात्सल्यपूर्वक माता कौशल्या भरत को गोद मे बिठाती हैं। माता कौशल्या मधुर-मृदुल वचनो के साथ बेटा भरत को धैर्य बँधाती हैं और अपने आँसू भी पोछती जाती है। माता कौशल्या कहती है, "प्यारे बेटा भरत! तुम किसी प्रकार की ग्लानि मन मे मत लाओ। यह सब काल-कर्म-गति है। बेटा भरत! प्यारे राम को वनवास मिला। सीता-लक्ष्मण उसके साथ चल दिये। तीनों प्राणी वल्कलवेष मे वन को चले गये। मैं न उनके साथ गयी और न मेरे प्राण उनके साथ गये। मेरी इन अभागिनी आँखो ने यह सब देखा, पर इस अभागिनी कौशल्या के शरीर से प्राण नही निकले। बेटा भरत! अच्छे तो तुम्हारे पिता निकले, जिन्होने राम-प्रयाण के साथ अपने प्राणों का प्रयाण करा दिया।"

भरत की वेदना माता कौशल्या की दशा देखकर वर्षा-काल की प्रबल सरिता-धारा की भाँति वेगवती हो गयी। भरत के मन में फिर वही बात आने लगी कि माँ कौशल्या भी यह समझती होंगी कि कैकेयी के षड्यन्त्र मे भरत भी शामिल है। यह अभागा भरत माता कौशल्या को कैसे विश्वास

दिलाए कि माता कैकेयी से उसके बेटे भरत ने अब बोलना ही छोड़ दिया है और उसने यह भी प्रण किया है कि वह जीवन पर्यन्त उस माँ से बोलेगा नहीं, जिसने उसके परम प्रिय आराध्य श्रीराम को अकारण वनवास दिया है। भरत जीवन-भर माँ कैकेयी से कभी मन से नहीं बोले। होठों से इसलिए बोलते रहे कि कौशल्या माता का आदेश था—

"कैकेयी जौलौं जियति रही।
तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही ॥"
(गीतावली, उत्तर०, पद ३७)

महाग्लानि और संताप से संतप्त भरत माता कौशल्या के आगे शपथ लेकर कहने लगे—"हे माता ! जो पाप बेटे को माता-पिता की हत्या करने पर लगता है, जो पाप किसी को गायों की शालाओं और ब्राह्मणों की बस्तियों को जलाने पर लगता है, जो पाप स्त्री तथा बालक के वध करने पर लगता है, जो पाप मित्र और राजा को विष देने पर लगता है और मन, वचन, कर्म द्वारा लगनेवाले जितने भी छोटे-बड़े पाप हैं, उन सभी पापों का फल विधाता मुझे दे, यदि राम को वन भेजने मे मेरी किंचिन्मात्र भी सलाह हो।"

श्रीराम के प्रति भरत का प्रेम सच्चा है। वह प्रेम सत्य और शील से समन्वित है। चित्रकूट पर दो प्रेमी हृदयों का मिलन विचित्र है। वह मिलन अपार-अगाध सागर है। अयोध्या श्रीराम के विनय-शील की भूमि है, जनकपुरी रूप-सौन्दर्य की और चित्रकूट प्रेम की भूमि है। दोनों प्रेमी अर्थात् भरत और श्रीराम अपने-अपने कर्तव्य पर दृढ़ है। गुरु वशिष्ठ जी भरत से राजगद्दी पर बैठने के लिए कहते है। भरत जी गुरुदेव की उस बात को नहीं स्वीकारते। क्यों ? क्योंकि वह गुरु-आज्ञा विवशता मे है। केवल मन रखनेवाली बात है। रघुकुल की परम्परागत रीति के प्रतिकूल है। स्वर्गस्थ पिता दशरथ की इच्छा के विरुद्ध है। यदि पिता की हार्दिक अभिलाषा भरत को राजगद्दी देने की होती, तो श्रीराम के वियोग मे उनका प्राणान्त न होता। भरत इन सभी बातों को पूरी तरह जानते है; इसलिए बड़े विनम्र भाव से शील-विनय के साथ गुरुदेव श्री वशिष्ठ मुनि से क्षमा माँगते हुए प्रार्थना करते है कि "गुरुदेव ! अयोध्या की गद्दी पर बैठने का अधिकार तो श्रीराम जी को ही है। मै तो उनके सेवक के रूप मे ही रह सकता हूँ। अतः मेरी प्रार्थना है कि आप अयोध्या के समाज के साथ मेरा मार्ग-दर्शन करें। मैं पूज्य भ्राता श्रीराम को मनाकर अयोध्या वापस लाना चाहता हूँ और उन्हें अयोध्या की

गद्दी पर विराजमान देखना चाहता हूँ।"

भरत जी के संकल्प का रथ अपनी यात्रा में सफल हुआ। वह संकल्प रथ विजयी क्यों न होता ? जिस रथ की ध्वजा सत्य हो और पताका शील हो, उस रथ को तो विजयश्री मिलती ही है। प्रभु के प्रेमी भरत संकल्प के रथ पर सत्य की ध्वजा और शील की पताका लेकर राम के दर्शनों को जा रहे है, अवश्य ही गन्तव्य पर पहुँचेंगे। भरत के शील की पताका में तिरंगे झंडे की भांति तीन रंग है—एक विनय का, दूसरा शिष्टता का और तीसरा करुणा का। भरत की चित्रकूट-यात्रा के मार्ग में जो घटित हुआ, उसमें भरत की विनय, शिष्टता और करुणा समाविष्ट है।

भरत जी के साथ सारी अयोध्या चित्रकूट को जा रही है। कुलगुरु वशिष्ठ के निर्देशन में यात्रा हो रही है। भरत जी की यात्रा के प्रमुख जिले फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ, इलाहाबाद और बाँदा है। 'चित्रकूट' जिला बाँदा में है। टौंस (तमसा) नदी फैजाबाद में और गोमती नदी प्रतापगढ में बहती है। गोमती से दक्षिण दिशा में सई नदी है। सई से दक्षिण में शृंगवेरपुर है। भरत जी के साथ अयोध्या का समाज तमसा, गोमती और सई नदियों पर पडाव डालने के उपरांत शृंगवेरपुर पहुँचा था। गंगा नदी शृंगवेरपुर से दक्षिण दिशा में है। शृंगवेरपुर के पास जब भरत जी पहुँचते है, तभी निषाद-राज गुह से उनकी भेंट होती है।

श्रीराम जी ने अपनी यात्रा में दो नदियों पर ही विश्राम किया है—प्रथम वास तमसा (टौंस) पर, द्वितीय गंगा पर। भरत जी के साथ अयोध्या की प्रजा थी, माताएँ थी और मुनिवर वशिष्ठ आदि भी थे; इसलिए शृंगवेरपुर पहुँचने तक तीन पडाव डाले गये थे—प्रथम तमसा पर, द्वितीय गोमती पर तृतीय सई नदी पर।

शृंगवेरपुर के पास जब भरत जी की भेंट निषादराज गुह से होती है, तब निषादराज गुह उन स्थानों को दिखाते हैं, जहाँ श्रीराम ने सीता और लखनलाल सहित विश्राम किया था और कुश बिछाकर धरती पर सोये थे। उन स्थानों को देखकर भरत जी के नेत्र आँसुओं से भर गये और स्वयं को मन-ही-मन धिक्कारने लगे। गोस्वामी तुलसीदास जी भरत की प्रीति, प्रणति और विनय के सम्बन्ध में लिखते है—

"जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हे दंड प्रनामु॥"

मानस अयो० १९८

"कुस साँथरी निहारि सुहाई । कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई ॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई । बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे । राखे सीस सीय सम लेखे ॥"
(मानस, अयो०, १९९/१-३)

भरत जी निषादराज गुह से बिसूरते हुए बोले—

"मै धिग धिग अघ उदधि अभागी । सब उतपात भयउ मोहि लागी ॥
कुल कलंकु करि सृजेउ बिधाताँ । साइँ दोह मोहि कीन्ह कुमाताँ ॥"
(मानस, अयो०, २०१/५,६)

निषादराज ने सतप्तहृदय भरत जी को समझाया कि "भरत जी ! तुम दुखी मत हो । विधाता को ऐसा ही मजूर था । श्रीराम को तो तुम प्राणो से भी अधिक प्यारे हो ।"

भरत मन मे यह समझ रहे हैं कि वन मे श्रीराम, सीता और लक्ष्मण पैदल चले हैं; इसी विचार से भरत भी चित्रकूट की यात्रा मे पैदल ही जा रहे हैं ।

श्रीरामप्रेमीभक्त भरत जी मार्ग मे पैदल जा रहे हैं । चलते-चलते पाँवों मे छाले पड गये है, फिर भी सवारी पर नही बैठते । बैठें कैसे ? जिस मार्ग में राम पैदल चले हो, भरत उसमे सवारी पर बैठकर चले—यह कैसे हो सकता है । सेवको के आग्रह पर भरत जी कहते है—

"राम पयादेहि पायँ सिधाए । हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब तें सेवक धरम कठोरा ॥"
(मानस, अयो०, २०३/६-७)

भरत जी पैदल चले जा रहे हैं । पाँवों मे छाले पड गये है । प्रयागराज पर यमुना–गगा की श्याम–श्वेत धाराएँ देखकर भरत जी राम–सीता के रूप-ध्यान में लीन हो गये ।

श्यामल और धवल हिलोरो को परस्पर मिलीहुई स्थिति मे देखकर भरत जी को रोमाञ्च हो गया और राम–सीता–रूप का स्मरण करके तुरन्त प्रणाम किया । प्रेममूर्ति भक्तवर भरत सीताराम के चरणो मे मानो अभिनन्दन ही करने लगे । तुलसी लिखते हैं—

देखत स्यामल धवल हलोरे ।
पुलकि सरीर भरत कर जोरे ॥
(मानस, अयो०, २०४/५)

जल–कंपन की तीन स्थितियाँ प्रमुख हैं—(१) लहर (२) हिलोर (३) तरंग ।

लहर में जल–कंपन कोमल और कुछ शान्त–सा होता है। लहर से हिलोर मे जल का कम्पन कुछ अधिक उल्लास के साथ होता है। हिलोर मे लहरों का पुंज परस्पर उल्लसित होकर मिलता है। उन हिलोरो का मिलित रूप ही सीताराम का रूप था। तरंग मे हिलोर से अधिक उठान होती है। उस उठान मे उग्रता, कठोरता और वेग भी अधिक होता है। भरत जी ने गंगा–यमुना के उस जल मे सीतारामरूप हिलोरो के ही दर्शन किए और श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़े।

एक प्रकार से भरत जी आत्माराम हो गये। शरीर रोमांचित हुआ और होता रहा। तब तीर्थराज प्रयाग से भरत जी यही प्रार्थना करते हैं कि जन्म-जन्म मे मेरा प्रेम राम के चरणों मे हो। मुझे धर्म अर्थ, काम और मोक्ष मे से कुछ नही चाहिए। नारदकृत भक्तिसूत्र मे भक्ति का यही लक्षण बताया गया है—

"यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।
यत् प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति, न शोचति।" × ×
× × × ×
'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।"
(नारदकृत भक्तिसूत्र ४,५,६,)

भरत के भ्रातृप्रेम तथा भ्रातृभक्ति भाव से मानवजगत् ही प्रभावित नही है, अपितु प्रकृति भी द्रवीभूत है। भरत की चित्रकूट-यात्रा मे भरत पर शीतल जलद छाया करते जा रहे हैं। शीतल, मन्द, सुगंध वायु चल रही है। प्रकृति को भी राम की अपेक्षा रामभक्त का ध्यान है। भरत पर जलद छाया करते हैं; लेकिन राम पर केवल मेघ छाया करते है। मेघ मे जलद की अपेक्षा कठोरता है। मेघ मे ऊष्मा और जलद मे शीतलता है।

किएँ जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥"
(मानस, अयो०, २१६)

अयोध्या का सारा समाज चित्रकूट पर पहुँच गया। गुरुवर वशिष्ठ जी की अध्यक्षता मे एक सभा हुई। उसमें वशिष्ठ जी ने भरत के समक्ष एक

प्रस्ताव रखा कि "हे भरत ! यदि तुम १४ वर्ष का वनवास भोगने के लिए तैयार हो जाओ, तो राम अयोध्या को वापस जा सकते है ।" गुरु वशिष्ठ जी समझते थे कि भरत के लिए यह प्रस्ताव स्वीकार करना आसान न होगा, किन्तु भरत हर्षपूर्वक एकदम बोल उठे—

"कानन करउँ जनम भरि बासू । एहि तें अधिक न मोर सुपासू ।।"

(मानस, अयो०, २५६/८)

श्रीराम के प्रति भरत का ऐसा स्नेह देखकर ज्ञानी मुनि वशिष्ठ जी कुछ क्षणों के लिए सज्ञाहीन-से हो गये । महामुनि वशिष्ठ का ज्ञान भरत की भक्ति-मयी प्रीति के आगे धराशायी हो गया । तब मुनि की बुद्धिरूपी अबला नारी भरत के भक्ति-सागर के किनारे खडी रही । उस सागर के पार जाने के लिए मुनि वशिष्ठ के ज्ञान, वैराग्य और कर्म की नावें (नौका, बोहित और बेडा) भी व्यर्थ सिद्ध हो रही थी । तुलसी लिखते हैं—

"भरत महा महिमा जलरासी । मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी ।।
गा चह पार जतनु हियँ हेरा । पावति नाव न बोहित बेरा ।।

(मानस, अयो०, २५७/२,३)

चित्रकूट पर राजा जनक और रानी सुनयना भी आ गये हैं । भरत और राम के सम्बन्ध में विचार-विनिमय चल रहा है । रानी सुनयना ने रात के समय भरत के स्वभाव और मतव्य के विषय में राजा जनक से जानना चाहा । कर्मयोगी एव ब्रह्मज्ञानी मिथिलेश राजा जनक रानी सुनयना से कहने लगे, "रानी ! भरत जी के अगाध प्रेम-सागर की थाह न मुनि वशिष्ठ जान सके और न मैं जान सका । बस इतना ही तुमसे कह सकता हूँ कि भरत की प्रेम-महिमा को केवल राम जानते है । वह भी जानते ही है, वर्णन नही कर सकते"—

"भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहिं रामु न सकहिं बखानी ।।"

(मानस, अयो०, २८९/२)

भरत का प्रेम (पेम) राम के प्रति और राम का प्रेम भरत के प्रति कितना है, इसका पता चित्रकूट पर ही लगता है । अयोध्या राम के विनय-शील की भूमि, जनकपुरी राम के रूप-सौंदर्य की भूमि और चित्रकूट राम के प्रेम की भूमि है ।

श्रीराम और भरत के पारस्परिक प्रेम को चित्रकूट पर देखकर तुलसीदास तो इतने आर्द्र और भक्तिभाव मे विभोर हो गये है कि 'मानस' के अयोध्या-काण्ड में 'प्रेम' शब्द न लिखकर 'पेम' ही लिखते हैं। इस काण्ड मे दस बार 'पेम' शब्द ही लिखा गया है। तुलसी जानते है कि रकार की किरकिराहट बाधक है; इसीलिए तुलसी को 'पेम' ही ग्राह्य है। भरत का श्रीराम के प्रति श्रद्धामय स्नेह तुलसी के लिए प्रेम नही, पेम है।

भरत श्रीराम के वचनों को शिरोधार्य करके उनकी पादुकाएँ सिर पर रखके अयोध्या को चल दिये। अयोध्या मे आकर नदिग्राम मे कुटी बनाकर पादुकाओ की पूजा करने लगे। उनसे आदेश लेकर राज्य की व्यवस्था करते रहे, राम के शुभागमन तक और श्रीराम वियोग मे आँसू भी बहाते रहे।

राम ने वन मे जटाएं बनायी, भरत ने स्वय सिर के बालो को जटा बना दिया। राम ने वन मे कद, मूल, फल खाये, भरत ने अयोध्या मे किंचित् फलाहार करके दिन बिताये। राम को सन्यास दिया गया; भरत ने स्वय सन्यास लिया। राम धरती पर कुश बिछाकर सोये; भरत नदिग्राम मे गड्ढा खोदकर धरती–तल से नीचे कुस–साँथरी बिछाकर बैठे–बैठे दिन-रात राम के आगमन का भजन करते रहे। श्रीराम के साथ सीता और लक्ष्मण भी रहे और वन को अयोध्या बना दिया; लेकिन भरत नदिग्राम मे एकाकी रहे और अपने लिए अयोध्या को वन बना लिया। श्रीराम से अयोध्या छुड़वायी गयी; भरत ने स्वयं अयोध्या छोडी। श्रीराम से 'प्राप्य' का त्याग कराया गया, भरत ने 'प्राप्त' को स्वय त्यागा। भरत के श्रद्धासमन्वित प्रेम की महिमा को कौन जान सकता है ?

महात्मा तुलसीदास के भरत जी का जीवन सेवा का जीवन है, प्रेम का जीवन है, समर्पण का जीवन है। ऐसा कोई आदमी नही, जिसके पास देने को कुछ न हो। शरीर, मन, वचन और धन में से कुछ भी दिया जा सकता है। यही समर्पण है। इसे ही धर्मग्रंथों में भक्ति भी कहा गया है। इसी का पर्याय प्रेम है। प्रेम जितना दिया जाता है, उतना ही बढ़ता है; कम नही होता। प्रेम पूर्ण है। पूर्ण मे से पूर्ण निकालकर के भी पूर्ण ही शेष रहता है। प्रेम या भक्ति में 'स्व' का दान किया जाता है। वस्तुत. उत्सर्ग, प्रेम, समर्पण आदि स्व–दान के ही पर्यायवाची हैं।

निर्धन, अकिंचन अथवा निःस्व व्यक्ति के पास भी देने को कुछ न कुछ होता है। नि:स्व के पास दो हाथ होते हैं और दो आँखें होती हैं। नि:स्व

कराहते मानव के हृदय को अपनी करुणा के आँसुओं से नहला तो सकता ही है। दीन–हीन–पीड़ित मानव को अपने हाथों से सहला तो सकता है। उसके कलेजे पर हाथ रखकर उसे कुछ सान्त्वना तो दे ही सकता है। यही आर्द्रता प्रेम है, समर्पण है, भक्ति है, । भरत का जीवन इसी प्रेम की ओर संकेत करता है।

करुणरस के महाकवि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' नाटक को अपने हृदय के मसिपात्र में श्रीराम के आँसुओं की बूँदें डालकर लिखा है। महाकवि तुलसी की लेखनी भी भरत की वेदना को अंकित करते समय काँपती ही रही है। यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने भरत के महा अन्तर्दाह से उद्भूत उस महाघनीभूत वेदना को जितना अनुभूत किया है, उतना उनकी लेखनी उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकी है। भरत के साथ–साथ 'मानस' और 'गीतावली' में तुलसी का हृदय भी रोता ही रहा है। जिस तरह गीली लकड़ी जलती नहीं, सुँदकती है, ठीक उसी प्रकार भरत के अन्तर्दाह से तुलसी का हृदय भी सुँदकता ही रहा है।

१४ वर्ष की अवधि के बीतने में एक दिन रह गया है। भरत नंदिग्राम में श्रीराम के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। समझते हैं कि रामचन्द्र जी आ रहे होते, तो अयोध्या से कुछ दूर उनके आगमन का समाचार आ जाना चाहिए था, क्योंकि एक ही दिन तो शेष है अवधि में। लगता है श्रीराम जी ने कुटिल माता कैकेयी के इस हीन पुत्र को कुटिल जानकर त्याग दिया। वे अब अयोध्या नहीं आएँगे। इस प्रकार सोचते हुए भरत जी फिर विसूरने लगे। नंदिग्राम की कुटी में भरत बैठे हैं। सिर पर जटाएँ हैं। शरीर कृश है। राम–राम जप रहे हैं और आँखों से आँसू बह रहे हैं। 'भरत' शब्द में ही कराह है। महाकवि तुलसी के भरत के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है—

> " 'भरत' अहह कराहते इस शब्द को।
> महाकवि ने अश्रुओं से है लिखा ॥"

पवनपुत्र हनुमान् जी ने समाचार दिया कि श्रीराम पुष्पक विमान से अयोध्या आ रहे हैं। इतना सुनते ही भरत को रोमांच हो गया। हृदय-सागर में हर्ष की लहरें उठने लगीं। नेत्रों में नयी ज्योति आ गयी। शरीर में नयी शक्ति आ गयी। हनुमान् भरत की प्रेमाकुल दशा देखकर विदेह–से हो गये। तब हनुमान् ने अपनी आँखों से दिव्य प्रेम की असीम मूर्ति के दर्शन किये। तभी हनुमान् ने जीवन में प्रथम बार प्रेममयी भक्ति का सर्वोच्च आदर्श देखा

था। हनुमान् और भरत की प्रीति मे प्रमुख अंतर यही है कि श्रीराम जी हनुमान् की प्रीति का तो बार-बार बखान कर सकते हैं, लेकिन भरत की प्रीति को जानते तो है, बखान नही कर पाते।

शुभ समाचार पाते ही सारी अयोध्या श्रीराम के स्वागत मे दौड़ पड़ी। सुना कि श्रीराम, सीता जी और लखनलाल के साथ लंका से विभीषण, सुग्रीव अगद, जाम्बवन्त, नल और नील भी आये हैं। अयोध्या का सारा समाज उन सबसे मिला। श्रीराम ने सबका परिचय कराया। उस समय श्रीराम-भरत का मिलन अपूर्व था। श्रीराम साकार शृंगार हैं, तो भरत जी श्रीराम के प्रेम की मूर्ति है। शृंगार रस का स्थायी भाव प्रेम है। स्थायी भाव ही परिपक्व होकर रस संज्ञा प्राप्त करता है। रस की प्रक्रिया मे मूल तत्त्व स्थायी भाव ही है। इस दृष्टि से रस की तुलना मे स्थायी भाव का ही अधिक महत्त्व है। श्रीराम के नेत्र अश्रुपूरित है। उनके शरीर मे रोमाच है। वह भरत को हृदय से लगा रहे हैं। तुलसी श्रीराम-भरत मिलन को इन शब्दों मे वर्णित करते हैं—

"प्रभु मिलत अनुजहि सोह मोपहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुखमा लही।।"
(मानस, उत्तर०, ५/छद १)

मानव बिना कर्म के तो रह नहीं सकता। कर्म अवश्य करेगा, कैसा भी करे। कर्म सामान्यतः चार प्रकार के होते हैं—

(१) **अर्थकर्म**—जैसे भूख मिटाने के लिए भोजन करना या प्यास मिटाने के लिए पानी पीना।

(२) **आत्मकर्म**—जैसे अपने हाथों, नेत्रों तथा मन से पूजन, अर्चन, वंदन आदि।

(३) **पापकर्म**—जैसे जीवहिंसा, परपीड़न आदि।

(४) **पुण्यकर्म**—जैसे सत्य-पालन, दया, परोपकार आदि।

पुण्यकर्म उत्कृष्ट है और पापकर्म निकृष्ट है। पापकर्म को अधमकर्म भी कहा गया है।

'रामगीता' के प्रसंग तुलसीकृत 'मानस' में प्रमुख रूप से दो काण्डों में देखने मे आते हैं—(१) अरण्यकाण्ड मे लक्ष्मण के प्रति (२) उत्तरकाण्ड मे भरत के प्रति। श्रीरामभद्र ने भरत जी को जीवन का परमधर्म परहित बताया है।

भरत जीवनभर परहित में ही जिये। व्यास जी ने पुराणों मे और गीता में परोपकार अर्थात् सर्वभूतहितरति को परमधर्म बताया है—

"अष्टादश पुराणेसु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥"

इसी उपर्युक्त सूत्र का समर्थन मानसकार तुलसी भी करते हैं। प्यारे भइया प्रेममूर्ति भरत की जिज्ञासा के समाधान मे श्रीराम भरत से कहते हैं—

"परहित सरिस धर्म नहि भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥"
(मानस, उत्तर०, ४१/१)

यही धर्म प्रेममूर्ति भरत ने अपने मन, वचन और कर्म मे उतारा था। 'पर' के लिए 'स्व' का बलिदान ही भरत के जीवन का सर्वस्व था। इसी कारण वनवास से लौटे हुए श्रीराघवेन्द्र ने स्वयं अपने हाथो से भइया भरत की जटाओ को निरुआरा था। तब श्रीराघवेन्द्र करुणा से ओत-प्रोत हो गये थे; पूर्णत करुणानिधि बने हुए थे—

"तब करुनानिधि भरतु हँकारे।
निज कर राम जटा निरुआरे ॥"
(मानस, उत्तर०, ११/४)

ऐसे प्रेममूर्ति भरत की जय हो! जय हो!!

○ ○

१४. लक्ष्मण : एक तेजस्वी व्यक्तित्व

जागतिक सत्ता और कवि-मानस की प्रातिबिम्बिक सत्ता मे पर्याप्त अन्तर है। भौतिक जगत् का गगनगामी सूर्य यदि एक पारमार्थिक सत्ता है, तो सागर के जल मे उस सत्ता की परछाई एक प्रातिबिम्बिक सत्ता है। प्रकाश और उष्णता जितनी जागतिक सूर्य में होगी, उतनी प्रातिबिम्बिक सूर्य मे न होगी। काव्य-जगत् में इन सत्ताओ की प्रातिलोमिक स्थिति होती है। जागतिक पारमार्थिक सत्ता जब कवि के मानस मे प्रातिबिम्बिक सत्ता बनकर आती है, तब उस प्रातिबिम्बक सत्ता मे जागतिक पारमार्थिक सत्ता से अगणित गुना प्राण और ओज दिखायी पडता है। भौतिक जगत् के सूर्य की अपेक्षा कवि-मानस का प्रातिबिम्बिक सूर्य कई गुना अधिक तेजोमय दृष्टिगोचर होगा।

काव्यगत प्रातिबिम्बिक सत्ताएँ बल, ओज और प्रभाव मे जागतिक सत्ताओ को पाठको के मन मे प्रायः अपदार्थ-सा बना देती है। काव्यगत प्रातिबिम्बिक सत्ताओ के सच्चे स्वरूप को सहृदय सुविज्ञ पाठक ही जान-पहचान सकता है। तुलसी के मानस मे प्रतिबिम्बित लक्ष्मण के वर्चस्, ओजस् तथा तेजस् को विरला मर्मज्ञ पाठक ही समझ सकता है।

'वर्चस्,' 'ओजस्' और 'तेजस्' शब्द अर्थ की दृष्टि से पर्यायवाची होते हुए भी अपनी विभिन्न प्रकाशात्मक भेदक रेखाएँ रखते हैं। 'वर्चस्' एक कान्ति है, तो 'ओजस्' एक दीप्ति और 'तेजस्' एक ज्वाला है। लक्ष्मण के व्यक्तित्व मे विकास की ज्योति वर्चस् से ओजस् का और ओजस् से तेजस् का रूप धारण करती चली गयी है। अर्थात् लक्ष्मण अपने जीवन-पथ पर अग्रसर रहकर वर्चस्वी से ओजस्वी और ओजस्वी से तेजस्वी बनते चले गये हैं। उनके वर्चस्, ओजस् और तेजस् के उद्रेक को केवल श्रीराम का वर्जनात्मक नयनसञ्चयन ही रोक सकता है, अन्य नही। शेषशायी के ही सकेतो के अनुगामी हैं शेष।

तुलसी-मानस के पन्नो को हम आदि से अन्त तक पलटते चलें, तो हमे उनमे लक्ष्मण के वर्चस्, ओजस् और तेजस् के क्रमशः दर्शन होते चलते हैं। उनके तेज ने ही इन्द्रजयी मेघनाद को समाप्त किया था।

कमनीय कैकेयी के कामपाश मे फँसे हुए कामासक्त राजा दशरथ निर्दोष राम को १४ वर्ष के लिए वन भेज देते है। सुमन्त्र राम, सीता और लक्ष्मण को रथ पर बिठाकर गंगातट तक पहुँचा देते हैं और फिर अयोध्या वापस आ जाते है। गंगातट पर सुमन्त्र और राम की पारस्परिक विदाई का दृश्य बहुत मार्मिक है। इधर सुमन्त्र की आँखों से गंगा-यमुना बह रही है, उधर राम के नेत्रों मे आँसुओं की लड़ियाँ दिखायी दे रही है। यती लक्ष्मण ने उस वेदनासकुल-वातावरण के मूल कारण को पल मात्र मे ही जान लिया है। उन्हे क्रोध कैकेयी पर नही आया, अपितु अपने पिता दशरथ पर आया और तब वह पिता के लिए कुछ कठोर शब्द भी कह गये। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने लक्ष्मण को तुरन्त बरजा और तात सुमन्त्र से सविनय प्रार्थना की, "आदरणीय तात! आपको मेरी सौगन्ध है। आप कृपा करके लखन की इस लरिकाई को पूज्य पिता जी से न कहे। इसके लिए मै चरण छूकर आपसे बार-बार क्षमा माँगता हूँ।"

मानस के पाठकों की आँखो के लिए यह प्रथम अवसर है, जब उनकी आँखें लक्ष्मण के व्यक्तित्व मे एक हलके से बचस् की झलक देख रही है।

तुलसी-मानस के संतप्त सुमन्त्र श्रीरामचन्द्र-जी के उस कथन को शोकाकुल राजा दशरथ के समक्ष इस तरह व्यक्त करते है—

"तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहिं करै न काऊ ॥
लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा ॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई ॥"

(मानस, अयो०, १५२/६-८)

बड़े भइया राम लखन की लरिकाई छिपाने के लिए सुमन्त्र को बार-बार अपनी सौगन्ध क्यो न दिलाएँगे? यह वे ही तो बड़े भइया है, जिन्हें लखन-लाल ने अपने पिता, माता और गुरुओं से भी बढ़कर माना है। लखनलाल के लिए श्रीराम ही सर्वस्व हैं। श्रीराम के लिए ही तो लक्ष्मण ने जननी सुमित्रा को, पिता दशरथ को और सद्य. परिणीता किशोरी उर्मिला को त्यागा है। लक्ष्मण ने पत्नी उर्मिला को तब तक त्याग दिया था, जब तक उसके पाणिग्रहण-पीतकरों की हल्दी पूरी तरह से छूटी भी न थी। उसी यती लक्ष्मण ने वन-गमन के समय बड़े भाई श्रीराम द्वारा मना किये जाने पर श्रीराम के समक्ष विनय भाव से अपनी हार्दिक भावना इन शब्दो मे व्यक्त की थी

'गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उर अंतरजामी॥"
(मानस, अयो०, ७२/४-६)

लक्ष्मण के लिए श्रीराघवेन्द्र ही एकमात्र स्वामी थे। वे ही माता, पिता और गुरु थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि श्रीराम ने लक्ष्मण के समक्ष अपने मुख से भरत को अपना सर्वाधिक प्रिय भाई कहा और हनुमान् को लक्ष्मण से दूना प्यारा बताया, लेकिन लक्ष्मण ने कभी बुरा न माना। श्रीराघवेन्द्र की इच्छा तथा प्रसन्नता में ही सदा अपनी इच्छा और प्रसन्नता मानी।

प्रेमानुगामिनी श्रद्धा की प्रगाढता इसी मे है कि श्रद्धेय के प्रति तनक–सी हेठी बात सुनकर श्रद्धालु के मानस में आवेशमय मन्यु की उत्ताल तरगें उठने लगें। तब श्रद्धालु का मानस एक साथ क्षुब्ध हो जाए और उसमे भीषण ज्वार उठने लगे। मन्यु वस्तुतः श्रद्धेय के प्रति श्रद्धालु की श्रद्धाभिव्यक्ति का एक चिह्न है।

सीता-स्वयंवर के लिए आमन्त्रित राजाओ की सभा लगी हुई है। जनकपुर की रंगभूमि मे विदेहराज जनक ने निराशाभरी वाणी में उद्घोष कर दिया कि सभी राजा आशा छोडकर अपने–अपने घरो को चले जाएँ। मैंने जान लिया कि पृथ्वी अब वीरो से खाली हो गयी है। यदि मैं इस तथ्य से पहले से अवगत होता, तो धनुष तोडने की शर्त के साथ प्यारी पुत्री सीता का स्वयंवर न रचता।

राजा जनक की वाणी से "बीर बिहीन मही मैं जानी" वाक्य श्रद्धेय श्रीराम की उपस्थिति मे सुनकर श्रद्धालु लक्ष्मण के मानस मे ज्वार आ गया। रक्त की ऊष्मा बढ़ गयी। भुजदण्ड फडकने लगे। लाल-लाल नेत्रो की भगिमा मे उग्र ओज साकार हो गया। कटाक्ष और भ्रू–सचालन मे वीर रस झाँकने लगा। श्रद्धामय आवेशपूर्ण मन्यु रोकने पर भी न रुक सका। श्रद्धेय भ्राता श्रीराम के चरणों मे प्रणाम करते हुए अनुज लक्ष्मण ओजोमयी वाणी मे जनकराज के कथन का उत्तर देने खडे हो गये—

"रघुबसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

सुनहु भानुकुल पंकज भानू । कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू ।।
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ।।
काचे घट जिमि डारौं फोरी । सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ।।
तव प्रताप महिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ।।
(मानस, बाल०, २५३/१-६)

लक्ष्मण अहीश है, शेष है। भगवान् राघवेन्द्र शेषशायी विष्णु है। जिस शेष ने जिन श्रद्धेय व्यक्तित्व को सदा अपने ऊपर सुलाया हो और जिनकी सेवामयी रक्षा मे जो स्वय कभी न सोया हो, उस गुडाकेश शेष को अपने श्रद्धेय की हेठी बात सुनकर आवेश क्यो न आता।

महाकवि भास ने तो अपने **प्रतिमा नाटक** मे लक्ष्मण के लिए स्पष्टत. लिखा है कि श्रीराम यदि सूर्य हैं, तो लक्ष्मण दिवस है और सीता जी छाया की भाँति रामचन्द्र जी की संगिनी हैं। दिवस तो सूर्य के साथ ही रहता है। **'मानस'** की सुमित्रा इसीलिए लक्ष्मण से कहती है—

"तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू।"
(मानस, अयो०, ७४/३)

शेषावतार लक्ष्मण का वह मन्यु (उचित क्रोध) उस समय कुछ विशेष ही था। पृथ्वी पर दाहिने चरण को कुछ आगे बढ़ाकर रखते हुए शेषावतार लक्ष्मण कुछ ही शब्द बोले होगे कि पृथ्वी के दिग्गज डगमगाने लगे। सब समुपस्थित राजा भयभीत हो गये। तब श्रीराम ने ही नेत्रों के सज्ञपन से लक्ष्मण को शान्त करके प्रेमपूर्वक अपने पास बिठा लिया।

यती लक्ष्मण के ओजस् का वह साकार जीवन्त रूप जनकराज की सभा में आगन्तुक राजाओं ने अपनी आँखो से स्वयं देखा था।

देश–विदेश से आये हुए राजाओं की तथा जनकराज की तो बात ही क्या ? श्रद्धेय श्रीराम के विरोध में यदि भरत और शत्रुघ्न भी आ जाएँ, तो लक्ष्मण उन्हे भी क्षमा नही कर सकते। एक बार को लक्ष्मण अपना विरोध सह सकते हैं, किन्तु श्रद्धेय भ्रातृवर श्रीराम भद्र का विरोध लेश मात्र भी नही सह सकते।

चित्रकूट की ओर दल–बल–सहित आते हुए भरत को देखकर और यह जानकर कि भरत श्रीराम से युद्ध करने आ रहे हैं, ओजस्वी लक्ष्मण का सुप्त वीर रस एक साथ जाग उठा। उनके मानस–क्षेत्र मे भरत से युद्ध आरम्भ

ो गया। उसी युद्ध को वाणी द्वारा श्रीराम के समक्ष व्यग्र-विक्षुब्ध लक्ष्मण
[रन्त व्यक्त करने लगे।

"आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥"
(मानस, अयो०, २३०/३-७)

चित्रकूट पर लक्ष्मण का गंगातटवाला पूर्व वर्चस् अब ओजस् का रूप ग्रहण कर चुका था। यती लक्ष्मण के व्यक्तित्व की कांति अब दीप्ति में बदल चुकी थी। कांति को तो श्रीराम ने मात्र नेत्र-संज्ञपन से ही शान्तकर दिया था। इस बार की ओजोमयी दीप्ति को शान्त करने के लिए श्रीराम का नेत्र-संज्ञपन पर्याप्त न था, उन्हें वाणी का भी उपयोग करना पड़ा। जब श्रीराम ने भरत के स्वभाव को, भरत के नीर-क्षीर-विवेकी हंसत्व को और भरत के अथाह प्रेम-सागर की गहराई को लक्ष्मण से कहा, तब कहीं लक्ष्मण शान्त हुए।

लखनलाल की क्रोधाग्नि को श्रीराघवेन्द्र के प्रेमपूर्ण संकेत का जल ही शान्त कर सकता है। श्रीराम जी की प्रेम भरी दृष्टि लक्ष्मण के उफान को उसी प्रकार बिठा देती है, जिस प्रकार उफनते हुए दूध को पानी के छींटे। इसका मूल कारण यह है कि लक्ष्मण के लिए सदा-सर्वदा श्रीराघवेन्द्र ही सब कुछ हैं। श्रीराम जी से लक्ष्मण जी ने स्पष्टतः निवेदन भी कर दिया था—

"गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥"
(मानस, अयो०, ७२/४)

"मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥"
(मानस, अयो०, ७२/६)

लक्ष्मण यती हैं, तेजस्वी यती हैं। वे भक्तिसमन्वित वैराग्यरूप तेज हैं। उन पर अविद्या माया प्रभाव नहीं डाल सकती। दुष्टहृदया रावण-भगिनी विद्युज्जिह्वपत्नी तथा वासनामयी स्वैरिणी शूर्पणखा तेजस्वी यती के समक्ष परास्त ही हुई। शूर्पणखा स्वभाव से अहिनी है। काम की भूख में पुत्रों को खा चुकी है। पति को भी खा चुकी है। इसलिए कुमाता के साथ-साथ कुपत्नी भी है। विधवावस्था में भी निर्द्वन्द्व स्वैरिणी रूप में घूम रही है। ऐसी अहिनी

स्वभावरूपा शूर्पणखा लक्ष्मण का क्या बिगाड सकती थी ? लक्ष्मण यती के तेज की ज्वाला के आगे शूर्पणखा क्षण भर भी न टिक सकी । भागी, नकटी-बूची होकर भागी ।

श्रीराम भद्र लक्ष्मण के विषय मे कुछ भी कहें, लक्ष्मण को सब स्वीकार्य है । सुग्रीव के मन्त्री हनूमान् किष्किंधापुरी के निकटवर्ती पर्वत ऋष्यमूक के पास श्रीराम-लक्ष्मण से मिलते है । हनूमान् से मिलकर श्रीराम भद्र इतने भाव-विभोर हो जाते है कि लक्ष्मण की उपस्थिति मे ही हनूमान् को लक्ष्मण से दूना प्रिय कह देते है । लक्ष्मण राम को समझते है, राम के हृदय को समझते है । वह न बुरा मानते है और न कुछ कहते है ।

ब्रह्मा की दी हुई अमोघ शक्ति मेघनाद ने लक्ष्मण पर चला दी । जीवन मे पहली बार लक्ष्मण विरोधी के समक्ष युद्धभूमि मे मूच्छित हुए थे । सुषेण वैद्य की बतायी सजीवनी बूटी लक्ष्मण को पिलायी गयी । तब लक्ष्मण सचेत हो गये और मेघनाद से युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर चल दिये । हनूमान् आदि सब वीर वानर साथ थे ।

श्रीराम भद्र का अनुशासन प्राप्त करके लक्ष्मण जी मेघनाद से लडने के लिए जाने लगे । तब यती लक्ष्मण श्रीराम के चरण स्पर्श करके बोले—यदि मैं आज मेघनाद को बिना मारे आऊँ, तो श्रीरघुनाथ जी का सेवक न कहलाऊँ । यदि सैकडो शंकर भी मेघनाद की सहायता करें, तो भी श्रीरघुवीर की दुहाई देकर कहता हूँ कि उसे मार ही डालूँगा ।

लक्ष्मण-मेघनाद का युद्ध होने लगा । मेघनाद ने लक्ष्मण जी पर प्रचड त्रिशूल छोड़ा । लक्ष्मण जी ने बाण से उसके दो टुकड़े कर दिये । क्रुद्ध काल की तरह मेघनाद को अपनी ओर आते देखकर लक्ष्मण जी ने भयकर बाणो की वर्षा आरम्भ कर दी । लक्ष्मण के वज्रबाणो की मार से मेघनाद छिप गया । कुछ समय बाद जब फिर युद्ध-भूमि मे समक्ष आया और युद्ध करने लगा, तब शेषावतार लक्ष्मण जी ने नागबाणों से उसकी छाती को छलनी बना दिया और अन्त मे एक प्राणघाती नागराज बाण छोड़ा और मेघनाद का प्राणान्त कर दिया ।

लंका की युद्धभूमि में तब वानर-सेना और राक्षस-सेना ने लक्ष्मण के तेजस् की उग्रता को देखा था । गुडाकेश यती लक्ष्मण के तेज में ही यह सामर्थ्य थी कि इन्द्रजित् मेघनाद का प्राणान्त हो गया ।

यदि लक्ष्मण मेघनाद से युद्ध न करते, तो मेघनाद का प्राणान्त न होता। श्रीराम मेघनाद को नहीं मार सकते थे। कामाक्षा देवी का वरदान मेघनाद को मिल चुका था। बारह वर्ष तक जिसने नारी और निद्रा पर विजय पायी हो, वही मेघनाद को मार सकता था। यह साधना साधक यती लक्ष्मण कर चुके थे; इसलिए केवल लक्ष्मण ही मेघनाद को मार सकते थे।

मेघनाद के न मरने पर न रावण मरता और न सीता को राम पा सकते थे। अतः लंका-विजय का मूल श्रेय यती लक्ष्मण को तथा लक्ष्मण के उस तेज को है, जिसने राक्षसराज इन्द्रजित् मेघनाद को समाप्त किया।

लक्ष्मण अग्रज राम की आज्ञा से आग में भी कूद सकते थे; काल के काल से भी भिड़ सकते थे। तुलसी ने तो सदा ही सौमित्र के मुखमण्डल पर ओज और तेज का वर्चस् ही देखा है; लेकिन वाल्मीकि ने सीता-निर्वासन-कर्म में आरूढ़ लक्ष्मण की आँखों में गंगातट पर आँसू भी देखे हैं। गंगा के पार वाल्मीकि के आश्रम के निकट की भूमि पर खडी हुई निरपराधिनी विषादमयी सीता की परिक्रमा लक्ष्मण ने गलदश्रु नेत्रों से की थी। वह दृश्य कितना हृदयविदारक होगा, जिसे देखकर वीर यती लक्ष्मण की आँखों से भी अविरल अश्रुधारा बह चली थी।

श्रीराम ने रावण को मारा। श्रीराम ने लंका पर विजय प्राप्त की। श्रीराम ने विभीषण को लंकेश बनाया। श्रीराम ने राक्षसेन्द्र रावण आदि का वध कर पीडित जनता को सुख दिया। राम-राज्य की दुहाई चारों ओर छा गयी। राम की इस कीर्ति की पताका के प्रमुख दण्ड यती लक्ष्मण हैं। तुलसीदास बालकाण्ड के आदि में लिखते हैं—

"रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥"

(मानस, बाल०, १७/६)

आन के अनोखे एवं महातेज से समन्वित दीप्तिमान् लक्ष्मण की जय हो! वर्चस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी लक्ष्मण की जय हो! महान् ऊर्जा से ऊर्जस्वित यती लक्ष्मण की जय हो! जय हो! जय हो!

० ०

१५. पवनपुत्र हनूमान्, जिनके ऋणी श्रीराघवेन्द्र भगवान्

धनाधिक्य में भी आदमी अपने आपे से बाहर हो जाता है; क्योंकि उसमें भी एक मद है। जनाधिक्य में भी वैसी ही दशा हो जाती है; क्योंकि उसमें भी एक मद है। प्रभुता का पद मिलने पर भी मनुष्य बौरा जाता है ; क्योंकि पद में भी एक मद है। विद्या का भी मद होता है। शक्ति या बल का भी एक मद है। इन मदों मे से प्रत्येक मद मे इतनी अधिक मादकता है कि ससार के प्राणी उससे प्राय बच नही पाते। रघुपतिप्रिय भक्त कपीन्द्र हनुमान् ही ऐसे है, जो अतुलित बलधाम होते हुए भी परम विनयी हैं और बल का मद जिन्हें छू भी नहीं पाया। हनूमान् भगवान् के ज्ञानी भक्त हैं। ज्ञानी भक्त पर षड्विकार प्रभाव नही डाल सकते। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य का अकुर पवनकुमार की हृदय-भूमि मे कभी नही उग सकता; क्योंकि उनके हृदय-आगार मे श्रीराम धनुप-बाण लिए हुए सदा विराजमान रहते हैं। धनुर्धारी राम के बल-भरोसे पर ही हनूमान् सब कार्यों मे विजय पाते हैं। हनूमान् की विजय प्रभु के प्रताप की विजय है। हनूमान् की सफलता प्रभु-पद-सेवा की सफलता है। हनूमान् के पास उनका अपना बल नही, उनके प्रभु का ही बल है। उस बल का बीज भक्ति में है, अहकार में नही। भक्ति मे अहंकार का लेश कहाँ ?

गोस्वामी तुलसीदास 'मानस' के बालकाण्ड में पवनकुमार को प्रणाम करते हुए उनके भक्त-रूप का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

"प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यानघन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।।"

(मानस, बाल०, १७/-)

अंजनीनदन हनूमान् उस सुग्रीव के मन्त्री हैं, जिसे उसके बडे भाई बालि ने पीटकर निकाल दिया है। उसकी पत्नी रूमा को छीन लिया है हनूमान्

विपन्न सुग्रीव का साथ नही छोड़ते। दीन–दुःखी की सहायता करना, सदा मैत्री निभाहना हनुमान् का अपना धर्म रहा है। "मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।।" (मानस, किष्कि० ३/-)। श्रीराघवेन्द्र कपीन्द्र हनुमान् के इस सचराचर–सेवक-गुण पर मुग्ध हो गये हैं। पहली भेंट मे ही हनुमान् की विनय और सेवा–भावना से श्रीराम जी इतने प्रसन्न हुए कि पदप्रणत हनुमान् को तुरन्त हृदय से लगाया और प्रेम के आँसुओं से भिगो दिया।

दास्यभाव की भक्ति मे दास का अपना कर्तृत्व भाव नष्ट हो जाता है। कर्तृत्व भाव मे ही तो अहंकार का अंकुर फूटता है और पल्लवित होता है। स्वामी की दासता, सेवा और आदेश–पालन ही दास का जीवन-लक्ष्य होता है। दास्यभाव की भक्ति मे प्रभु के चरणो में ही दास का मन समर्पित होता है। वह समर्पण ही साधन और साध्य है।

आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा नाम की ज्ञानेन्द्रियों का अधिपति मन है। अधिपति सहित ये छहों ज्ञानेन्द्रियाँ पंचकर्मेन्द्रियों पर शासन करती है। यदि घ्राणेन्द्रिय उपवन के पुष्पो की सुगन्ध पर आकृष्ट हो गयी, तो पाँव एकदम फूलो की ओर बढ़ जाएँगे। दास की कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के वशीभूत होती हैं और वे ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु की दासता को समर्पित होती हैं। श्रीराम की अश्रुपूरित दशा को अनुज लक्ष्मण देख रहे हैं। वनवासी श्रीराम के मुख से सेवक हनुमान् के लिए एक साथ यह वाक्य निकल पड़ा—

"सुनु कपि जियँ मानस जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।।"
(मानस, किष्कि०, ३/७)

श्रीराघवेन्द्र के इस कथन को अनुज लक्ष्मण भी सुन रहे हैं। उस समय लक्ष्मण ने जो देखा और सुना, उस पर लक्ष्मण ने विचार न किया हो–ऐसा नही हो सकता। लक्ष्मण ने इसके मूल कारण पर अवश्य विचार किया होगा कि हनुमान् में ऐसा कौन-सा विशिष्ट गुण है, जिससे प्रभावित होकर प्रभु ने हनुमान् को मुझसे दूना प्यारा कहा है। लक्ष्मण के विचार का मंदराचल उनके हृदयरूपी क्षीरसागर का मंथन करने लगा। लक्ष्मण अपने गत १३ वर्षों के जीवन की घटनाओं पर ऊहापोह करने लगे। लक्ष्मण का विवेक लक्ष्मण से साफ-साफ कहने लगा—"लक्ष्मण! तुम श्रीराम की सेवा अवश्य करते हो और तुम श्रीराम के लिए समर्पित भी हो; लेकिन तुम्हारी सेवा मे उग्रता और अहंकार का पुट है। तुम जब आवेश में आते हो, तब ऊँच-नीच, कहनी-अनकहनी, बड़े-छोटे, पूज्य अपूज्य का विवेक खो देते हो। तुम्हारी सेवा में संयम

की कमी है। तुम्हें प्रभु ने कई बार रोका–टोका है, फिर भी लक्ष्मण तुम आदत से बाज नहीं आये। इस दृष्टि से अब इस कपि हनुमान् को देखो। इसके शील को देखो। इसकी विनय को देखो। इसकी सेवा-भावना को देखो। इसमें कितना आकिंचन्य, संयम, शील और विनय है! कोई विशिष्ट बात ही तो है, जिसके कारण तुम्हारे श्रद्धेय भ्राता श्रीराम हनुमान् को तुम से अधिक प्रिय कह रहे हैं।"

लक्ष्मण का मौन यह सिद्ध करता है कि लक्ष्मण ने भी हनुमान् के उस आकिंचन्य को, विनय-शील को और सेवा-भाव को स्वीकारा होगा।

लक्ष्मण के विवेक ने लक्ष्मण को सचेत करके कुछ विश्राम किया ही होगा कि कुछ ही क्षणों में लक्ष्मण की आँखें क्या देखती हैं? यह कि सुग्रीव की व्यथा की कथा सुनकर कपि हनुमान् ने श्रीराम और लक्ष्मण को अपनी पीठ पर चढ़ा लिया। अब शेषावतार लक्ष्मण को श्रीराम के कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल गया। लक्ष्मण ने स्वीकारा होगा कि मैंने तो अकेले प्रभु को ही उठाया, लेकिन हनुमान् ने तो एक साथ प्रभु को और मुझे – दोनों को उठा लिया। मैं अकेले प्रभु को उठाकर एक स्थान पर स्थिर ही रहा हूँ। यह हनुमान् तो हम दोनों को पीठ पर लेकर दौड़ता हुआ चल रहा है। लक्ष्मण का गर्व धराशायी हुआ और उन्होंने हनुमान् के बल को तथा हनुमान् के विनयी सेवा–भाव को मन में बार–बार सराहा और स्वयं से हनुमान् को बड़ा माना।

हनुमान् और श्रीराम एक दूसरे के प्रति आशावान् नहीं, परमविश्वासी हैं। आशा में कहीं न कहीं कुछ संशय के छींटे अवश्य रहते हैं, विश्वास में नहीं। पूर्ण आस्था और श्रद्धा के बल पर ही मानव की मनोभूमि में विश्वास का बीज अंकुरित होकर पल्लवित होता है और बढ़ता है; फिर बढ़ता है और निरन्तर बढ़ता रहता है।

राजा सुग्रीव ने सब प्रमुख वानरों को बुलाया और सीता जी की खोज लगाने के लिए सब दिशाओं में जाने के आदेश दिये। सब वानर अंगद, नील, जाम्बवंत आदि आगे खड़े थे प्रथम पंक्ति में। प्रथम पंक्ति में वही खड़ा होता है, जिसमें कुछ अहं का पुट होता है और अपने को कुछ समझता है। उस समय हनुमान् सबसे पीछे की पंक्ति में थे। स्पष्ट है कि हनुमान् में अहं का लेश भी नहीं है। कुछ होता, तो अग्रिम पंक्ति में खड़े होते।

मन के केन्द्रबिन्दु से जानेवाले 'अहं' का व्यास जितना बड़ा होगा, प्रभु उस मन से उतनी ही अधिक दूर होंगे। 'अहं' का व्यास बड़ा, तो प्रभु की दूरी भी बड़ी। जिस मन-केन्द्र के अहं का व्यास ही नहीं होगा, प्रभु उसी केन्द्र पर होंगे। हनुमान् के मन-केन्द्र का अहं-व्यास है ही नहीं; इसलिए हनुमान् के मन में ही प्रभु सदा विराजमान हैं। अहंकाररूपी व्यास की समाप्ति पर मन और प्रभु एक बिन्दु पर होते हैं। तब वृत्त और केन्द्र एक बन जाते हैं। अहं का विकास अभिमान और 'अहंकार' के रूप में होता है। सीमातीत महा अभिमान का नाम 'अहंकार' है। अहंकार में आपे की सुध-बुध न रहना मद है। 'मैं' और 'मेरा' अहंकार, 'तू' और 'तेरा' मोह, और 'वह' और उसका भक्ति है। मोह की बहिन ममता और अहंकार का भाई मद है। एक बार भ्रांति या असत् को जानने पर भी पुनः उससे लगाव का बना रहना मोह है। तोते का सैमल के फूल से लगाव मोह है।

अहं अर्थात् 'मैं' को सामान्यतया तीन भावों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विषयी भाव, जिसमें कर्तृत्व तथा आसक्ति निवास करती है। (२) जिज्ञासु भाव, जिसमें अमरता निवास करती है। (३) भक्तिभाव, जिसमें दिव्य प्रेम (भक्ति) निवास करता है। भक्त का 'मैं' अपने अनन्त साध्य भगवान् का अर्थात् अपने प्रेमास्पद का प्रेम बन जाता है। वह प्रेम ही भक्ति का पर्याय है।

जिज्ञासु और भक्त में इतना अन्तर है कि जिज्ञासु जानने के उपरान्त ज्ञेय की सत्ता स्वीकार करता है; लेकिन भक्त बिना जाने, विश्वास के आधार पर ही प्रभु की सत्ता स्वीकारता है।

हनुमान् जी का 'अहं' जिज्ञासु और भक्त के रूप में ही फलित हुआ है। तुलसीकृत 'मानस' में किष्किंधाकाण्ड (१/७) के 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा' कथन से हनुमान् जी का जिज्ञासुरूप व्यक्त होता है। दशरथपुत्र श्रीराघवेन्द्र की वनवास-गाथा सुनकर विप्ररूप हनुमान् अपने प्रभु को पहचान लेते हैं और फिर उनके चरणों में गिर जाते हैं। प्रेमास्पद भगवान् के प्रति भक्त का यही समर्पण है। इसी समर्पण से तो विषयीभाव अपने कर्तृ-अहम् का नाश करके भक्तभाव ग्रहण करता है।

प्रभून्मुखी प्रीति या प्रेम और भक्ति ऐसे शब्द हैं, जो अर्थ में एक प्रकार से पर्याय हैं। क्षणभंगुर या असत् से जुड़ना मोह है और शाश्वत सत् से जुड़ना प्रीति है। प्रीति शाश्वत के प्रति अनुराग की अनुभूति है। हनुमान जी ने

सुग्रीव को शाश्वत सत् से दृढ़तापूर्वक जोड़ दिया था। वह मिलन प्रीति का ही सूचक था। तुलसी लिखते है—

"तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।।"
(मानस, किष्कि०, ४/-)

अहं तथा मम का सम्बन्ध भोग है और अहं तथा तत् का सम्बंध योग है। अतः भक्ति भी योग है।

"यह मेरा नहीं है, यह न कभी मेरा था और न होगा"—इस भाव से ही ममता-मोह का नाश हो सकता है। ममतामयी आसक्ति को सेवा-भाव मे निर्मूल किया जा सकता है। जिसने मोह को सेवा मे बदल दिया हो, उसे कभी दुख न होगा। हनुमान् जी सदैव सेवारत रहे। सुग्रीव, श्रीराम, सीता जी आदि सभी की सेवा में पवनपुत्र ने जीवन बिताया। श्रीराम की वानर-सेना मे कपीश्वर सहज भाव से सच्चे सेवक बने रहे और अहंता-भाव त्याग कर सेवा में निरत रहे। श्रीराम के सदा दास रहे और वानरों के सेवक। दास्य और सेवा में संलग्न व्यक्तित्व में न अहं होगा, न मोह। निर्मोहता आ जाने पर दिव्य भाव का सूर्य उदय होता है। प्राणी को प्रेम, प्रीति या भक्ति सच्चिन्मय की ओर नित्य गतिशील बनाती है। पवनपुत्र ने जिस क्षण चिन्मय प्रभु श्रीराम के दर्शन किये, उसी क्षण से वे उनकी ओर बढ़ते चले गये।

श्रीरामचन्द्र बड़े मनोविज्ञानी है। वास्तविक बल को भी जानते हैं और उछलकूदवाले दिखावटी बल को भी। हनूमान् के विनयी बल को प्रभु ने जान लिया था। बाद मे प्रभु ने हनूमान् को उँगली के इशारे से अपने पास बुलाया। हनूमान् ने पास जाकर प्रभु को प्रणाम किया। प्रभु ने आशीर्वाद का हाथ हनूमान् के सिर पर रखा और अपने हाथ की अँगूठी हनुमान् जी को दी और कहा, "सीता जी मिले तो उन्हे समझाना कि घबराएँ नहीं और अपनी बुद्धि से ऐसा कार्य करना कि हमारे बल का आभास हमारे वैरी को अवश्य हो जाए।"

कपीन्द्र पवनपुत्र समुद्र को लाँघने का उपक्रम कर रहे हैं। उल्लास और उत्साह भरपूर है; परन्तु उस उल्लास के मूल मे प्रभु-स्मरण ही है। तुलसी लिखते है—

"बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी।।"
(मानस, सुन्दर०, १/६)

वाल्मीकि अथवा तुलसी की प्रतीकात्मक भाषा मे हनुमान् वह प्रबुद्ध सकल्पित प्रज्ञा–चेतना है, जिसे एक दूसरी प्रबुद्ध प्रज्ञा से प्रेरणा मिल चुकी है और वह प्रबुद्ध प्रज्ञा है जाम्बवान्। जाम्बवान् की प्रेरणा–प्राप्ति से पूर्व हनुमान् एक स्वविस्मृतव्यक्तित्व थे। जाम्बवान् की प्रेरणा पाकर स्वविस्मृत व्यक्तित्व की चेतना जाग्रत् होकर ऊर्जस्वित होने लगी। उसका मन, शरीर चेतन–ऊर्जा से बढ़ने लगा और इतना बढ़ा कि पर्वताकार हो गया। प्रभु पर ही आश्रित संकल्पवान् मन इसी प्रकार लघु से महान् तथा अणु से गुरुतम बन जाता है। वह सकल्पवान् मन जीवनयात्रा की बाधाओं पर विजय पाते हुए आगे बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते परम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

कपीन्द्र हनुमान् ने अपनी लका–यात्रा में प्रभु को स्मरण किया, तो उन परम प्रभु ने हनुमान् को तीनों प्रकार की मायाओ से बचाया भी। हनुमान की यात्रा को एक आध्यात्मिक यात्रा माना जाए, तो सुरसा सत्वगुणी माया, सिंहिका रजोगुणी माया और लकिनी तमोगुणी माया है। भक्त हनुमान् ने तीनों मायाओ पर विजय पायी और दिव्य भक्ति की प्राप्ति की। सीता की प्राप्ति दिव्य भक्ति की प्राप्ति है।

'मानस' के श्रीराम को हनुमान् पर पूरा विश्वास है। श्रीराघवेन्द्र मुद्रिका हनुमान् को ही देते हैं, जिसे हनुमान् सीता जी को पहचान के चिह्न रूप मे देकर सीता जी से चूडामणि प्राप्त करते है। आधुनिक भारतीय भाषाओं की रामायणो मे सर्वप्रथम मुद्रिका तथा चूडामणि का प्रसंग भद्रनाथकृत तेलेगु रंगनाथ 'रामायण में पाया जाता है। वाल्मीकिरामायण और रामशर्मनकृत अध्यात्मरामायण में मुद्रिका-प्रसंग नही है। रगनाथ के उपरात तुलसी तथा एकनाथ ने अपनी-अपनी रामायण मे मुद्रिका-प्रसंग लिखा है।

हनुमान् लंका मे किन-किन कठिनाइयो को झेलकर सीता जी का पता लगा सके थे ? रावण की लंका जलाने की दृष्टि से ही मेघनाद की नागपाश मे उन्हें बँधना पड़ा था। श्रीराम को जब यह मालूम हुआ, तो राम का कठ गद्गद हो गया। नेत्रो से अश्रुधारा बहने लगी। ऋणी श्रीराम प्रियभक्त हनुमान् का ऋण स्वीकारते हुए बोले—

'सुनु सुत तोहि उरिन मै नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥"

(मानस, सुन्दर, ३२/७)

श्रीराघवेन्द्र के मुख से तोहि उरिन मै नाहीं' वाक्य यों ही नही निकला था। हनुमान् ने सीताजी का पता लगाने मे प्राणो की बाजी लगा दी थी

समुद्रोल्लघन और रावण की लंकापुरी मे प्रवेश करना प्राणो को गँवाना ही था। हनूमान् का स्वामी के प्रति यह पूर्णसमर्पण ही था।

ईश्वर प्रार्थ्य और मनुष्य प्रार्थी है। प्रार्थी का प्रार्थ्य के प्रति निवेदन ही प्रार्थना है। प्रार्थना मात्र ईश्वर-गुणगान और धन्यवाद नही है, अपितु अहकार को त्यागकर अपने को परमेश के प्रति समर्पित करना और परमेश को अपना एकमात्र स्वामी मानना प्रार्थना है। इसी का नाम है सेवक-सेव्य भाव की भक्ति। प्रेम और श्रद्धा के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। हनूमान् इसी सेवक-सेव्य भाव की भक्ति के मूर्धन्य भक्त है। काकभुशुण्डि जी गरुड़ जी से इसी भक्ति का महत्त्व कहते हैं—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥"

(मानस. उत्तर०, ११९/-)

कपीन्द्र हनूमान् किष्किधा के निकट ऋष्यमूक पर्वत की उपत्यका मे भगवान् राम के प्रथम दर्शन करते है और उन्हे पहचानकर उनके चरणो मे गिरकर परम सुख प्राप्त करते है।

मानव-जीवन की सामान्य अवस्थाएँ तीन हैं—(१) जाग्रत् (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति। जाग्रत् और स्वप्न में सुख—दुख की अनुभूति होती है। सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) मे सुख—दुख की अनुभूति नहीं होती। चतुर्थ अवस्था का नाम तुरीय है अर्थात् चतुरीय (चौथी) अवस्था। यह अवस्था योगियो को प्राप्त होती है। सामान्यत. सुषुप्ति जडतावत् है। जब जाग्रत् अवस्था मे ही सुषुप्ति प्राप्त हो जाती है, तब उसे तुरीयावस्था कह सकते है। यही योगी की समाधि अवस्था है। चेतनामयी सुषुप्ति का नाम समाधि है। सद्मनोयोग से कार्य करना और उसके सम्पन्न होने पर उससे मन को हटा लेना ही मनुष्य की समाधि अवस्था है। समाधि मे योगी परमानन्द की अनुभूति करता है। ठीक वैसी ही दशा भक्त की भगवद्दर्शन के समय हो जाती है। वनवासी श्री राघवेन्द्र के दर्शनों से हनूमान् जी को भी परम सुख मिला था। तब वे समाधि-सुख को प्राप्त हुए थे। शंकर पार्वती से कहते है—

"प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥"

(मानस, किष्कि०, ७/५)

हनूमान् जी के उस समाधिमुख रस की अनुभूति के विषय में शंकर जी ही कुछ कह सकते है; क्योकि उस रसानुभूति के वे ही सुयोग्यतम आश्रय है। श्रीराम के राज्याभिषेक के समय सीताजी सहित श्रीरामचन्द्र जी को सिंहासनासीन देखकर शंकर जी जिस परमानन्द को प्राप्त करते है, उसके विषय मे काकभुशुण्डि जी गरुड से कहते है—

"बरनहिं सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस॥"

(मानस, उत्तर०, १२ क/-)

यह कौन-सा अवतार है ?—इस दृष्टि से प्रभु को पहचानने मे हनूमान् जी को कुछ देर इसलिए हुई थी कि भगवान् विष्णु ने ग्यारह अवतार राम के रूप मे लिए हैं और २४ अवतार विष्णु रूप मे तथा १६ अवतार कृष्णरूप मे लिये। यह वृत्तान्त काकभुशुण्डि जी ने वशिष्ठ जी को सुनाया है। ब्रह्मानद-मजरी प्रमाण है।

श्रीमद्भागवत (स्कंध ७/अ० ५/२३) में नवधा भक्ति का उल्लेख है—**श्रवण भक्ति** (परीक्षित् की), **कीर्तन भक्ति** (शुकदेव की) **स्मरण भक्ति** (प्रह्लाद की), **पादसेवन भक्ति** (लक्ष्मी जी की), **अर्चन भक्ति** (पृथु की), **वंदन भक्ति** (अक्रूर की), **दास्य भक्ति** (हनुमान् की), **सख्यभक्ति** (अर्जुन की) और **आत्मनिवेदन भक्ति** (बलि की)।

हनूमान् जी नवधा भक्ति मे दास्य भाव की भक्ति के आश्रय है। इस भाव के आलम्बन एक मात्र श्रीरामचन्द्र जी हैं।

दास्य भाव की भक्ति मे भक्त भगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित रहता है। स्वामी का आदेश पालन करना ही सेवक के जीवन का परमलक्ष्य एव परमधर्म है। श्रीराम जी ने मुद्रिका देते समय हनूमान् से कहा था कि "तुम सीता जी से हमारे विरह को बताकर तथा वैरी को बल का संकेत देकर शीघ्र लौट आना।" इसीलिए हनूमान् ने लंका मे आग लगाकर रावण को श्रीराम जी के बल का संकेत कर दिया था। कपीश्वर हनूमान् मे विनय, मृदुता और सेवा—समर्पण-भाव इस कोटि का है कि मृदुवाणी से ही सीता जी को विश्वास दिलाया और धैर्य बँधाया। अशोक वन मे वंदिनी सीता को रघुवीर-प्रियभक्त हनूमान् ने ही कुछ क्षणो मे धीरज, शान्ति और सुख प्रदान किया था। तब वह सुख उस सीता ने प्राप्त किया था; जिसने एक बार लक्ष्मण से कहा था कि लक्ष्मण मेरा शरीर तो विधाता ने दु खों के लिए ही बनाया है—

"मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दु:खाय लक्ष्मण!"

मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये हैं। श्रीराम उन्हें अपनी जंघा पर लिटाकर विलाप कर रहे हैं। राम की आशा निराशा में बदल गयी है। भविष्य अंधकारमय है। लक्ष्मण के न रहने पर मेघनाद नहीं मर सकता। सीता रावण के यहाँ ही बंदिनी बनी रहेगी। विभीषण को 'लंकेश' कहकर तिलक करना व्यर्थ हुआ। इस अभागे राम ने विभीषण की बाँह क्यों पकड़ी थी? दुनिया क्या कहेगी? राम अब दुनिया में मुँह दिखाने का भी नहीं रहा। लंका की रणभूमि में राम रो रहे हैं। सब वानर किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। कपीन्द्र हनूमान् भी वहीं खड़े हैं। जाम्बवंत ने हनूमान् से कहा—"पवनपुत्र! तुम्हारे होते हुए श्रीराम को यह वेदना, यह महानिराशा।"

प्रभु के परमप्रिय भक्त हनूमान् से न रहा गया। उनसे श्रीराम का विलाप अधिक न सुना जा सका। प्रभो! आपके चरणसेवी हनूमान् के होते हुए आप इतने निराश क्यों होते हैं? आप आज्ञा करें। मैं आपके चरणों के प्रताप से आपका सेवक वही कर सकता हूँ, जो आप आदेश देंगे। प्रभो! यदि मेरा निवेदन गर्वोचित न माना जाए, तो आपके प्रताप से अभी ऐसा किया जा सकता है—

'जो हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं।
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत कुंड महि लावौं।
भेद भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥"

(गीतावली,'लंका०, पद ८)

तब श्रीराम को कुछ धैर्य बँधा। कपीश हनूमान् सुषेण वैद्य के संकेत पर द्रोणगिरि पर संजीवनी बूटी लेने चले गये। ज्ञानियों में अग्रगण्य हनूमान् ने वहाँ देखा कि वैद्य के द्वारा बताये हुए लक्षणों की वहाँ अनेक बूटियाँ थीं। उनमें संजीवनी कौन-सी है, इसका पता न लगा सके। लौटकर लंका को जाते हैं, तो सूर्योदय हो सकता है और लक्ष्मण को प्राणों से हाथ धोना पड़ सकता है। ऐसा विचार करते हुए कपीन्द्र पवनपुत्र ने संपूर्ण द्रोणगिरि-खण्ड को ही उखाड़ कर हाथ पर रख लिया और आकाशमार्ग से इतने वेग से चले कि आकाश में पर्वत की एक रेखा बन गयी।

"लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुत को मन को [illegible] को बेग सचायो।

तीखो तुरा तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥"
(कविता०, लंका०, छंद ५४)

'कपि यों धुकि धायो' से कपीन्द्र पवनपुत्र की सेवामयी प्रबलवेगवतीगति की अवगति हो जाती है।

सूर्योदय से पहले ही पवनपुत्र लंका में आ गये और सौमित्र लक्ष्मण के प्राण बच गये। सम्पूर्ण राम-दल एक स्वर से पवनपुत्र हनूमान् की जय-जयकार करने लगा, क्योंकि तब पवनपुत्र ही करुणा मे वीररस बने थे। लगता है इसी कारण किष्किंधा की प्रथम भेंट मे भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने कपीश्वर हनूमान् से कहा था—"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।"

पवनपुत्र हनूमान् श्रीराम जी के सम्पर्क मे जिस क्षण से आये, उस क्षण से लेकर श्रीराम के राज्याभिषेक एवं महाप्रयाण तक सदा प्रभु की सेवा मे ही क्रियाशील रहे।

अंजनीनंदन सततकर्म की साकार मूर्ति है। उनका व्यक्तित्व क्रिया है, घटना नही। घटना मे ठहराव है, क्रिया मे गति है। पवनपुत्र पवन की भाँति सदा गतिमान् हैं। प्रभु के मस्तक पर चिन्ता की छोटी-सी रेखा देखकर भी सेवक हनूमान् बेचैन हो जाते है। तब पवनपुत्र अलौकिक प्रभंजन बन जाते है। संजीवनी बूटी लाते समय तो कपीन्द्र का वेग मन की गति से भी तीव्र था। तुलसी ने कवितावली मे लिखा भी है कि हनूमान् ने गरुड़ के वेग को ही नही, मन के वेग को भी लज्जित कर दिया था।

केसरीकुमार कपीन्द्र हनूमान् के सभी गुणो पर प्रकाश डालते हुए गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं और प्रणाम करते हैं—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥"
(मानस, सुन्दर, श्लोक ३)

गोस्वामी तुलसीदास वातजात को प्रणाम करते हैं, वे वातजात कृशानुरूप हैं। वस्तुत कृशानु (अग्नि) वातजात ही तो है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का जन्म हुआ है। अतः अग्नि वात-

जाता है। अग्नि मे वायु की–सी गति तो है ही, साथ मे तेज भी है। उस महाअग्नि मे स्वर्णिम आभा और पर्वताकारिता भी है। वह महाअग्नि परम बलशाली भी है। इस तरह कृशानुरूप हनूमान् का सपूर्ण व्यक्तित्व महाकवि तुलसी ने मानस के सुन्दरकाण्ड के उपर्युक्त श्लोक मे चित्रित कर दिया है। ज्ञानिनामग्रगण्य, अतुलितबलधाम और दनुजवनकृशानु मे हनूमान् का आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व समाविष्ट है।

कपीन्द्र वज्रांगबली महावीर हनूमान् को अपना बल विस्मृत हो गया था। जाम्बवन्त के द्वारा स्मरण कराने पर ही स्वबल की अनुभूति हनुमान् को हुई थी। यही बात वशिष्ठ की भी थी। वशिष्ठ–विश्वामित्र युद्ध के समय जब विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी पर वारुणास्त्र, रौद्रास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, पाशुपतास्त्र, क्रौञ्चास्त्र आदि अस्त्र तथा विष्णुचक्र, कालचक्र, धर्मचक्र आदि चक्र चलाये, तब वशिष्ठ जी कुछ घबराने लगे। उस समय कामधेनु ने ही वशिष्ठ जी को उनके ब्रह्मदण्ड के अपार बल और तेज का स्मरण कराया था। ब्रह्मबल और ब्रह्मदण्डबल का स्मरण होने पर वशिष्ठ जी ने विश्वामित्र के सारे अस्त्र और चक्र निष्फल कर दिये और युद्ध मे विजय प्राप्त की। इसका उल्लेख वाल्मीकि-रामायण मे है। इण्डोनेशिया की रामायण मे कहा गया है कि राजा विश्वामित्र का राज्य उत्तर भारत मे था।

प्राचीन ग्रन्थों में युद्धों के कई प्रकार मिलते हैं— प्रकाश-युद्ध, माया-युद्ध मानसिक-युद्ध, शस्त्र-युद्ध, अस्त्र-युद्ध, मल्ल-युद्ध, तन्त्र युद्ध, द्वन्द्व युद्ध, सकुल—युद्ध, सम- युद्ध आदि।

हनूमान् जी की दास्य भाव की भक्ति इतनी प्रगाढ है कि जो लक्ष्मण लगभग १३ वर्ष तक वन मे सीता जी की सेवा मे रहे, वह सीता जी का विश्वास पंचवटी के जीवन तक प्राप्त न कर सके। मारीच के प्रसंग मे सीता जी ने लक्ष्मण के कथन पर विश्वास नही किया; लेकिन अशोकवनवासिनी सीता जी ने हनूमान् का विश्वास तुरन्त कर लिया था।

मराठीरामायण मे एक प्रसग आता है कि राम का राज्याभिषेक देखने के लिए हनूमान् की माता अजनी अयोध्या आयीं। राम ने माता अजनी के चरण स्पर्श करके प्रणाम किया और पूछा, माता ! कैसे कष्ट किया ? आपने राम को आदेश क्यों न भिजवाया ? मै स्वयं तुम्हारे पास आ जाता। तुमने कष्ट क्यों किया ? हनूमान् की माता अजनी ने कहा कि मन नहीं मानता यही

स्वयं आकर तुम्हें लंका-विजय की बधाई प्रत्यक्षत: देना चाहती थी, इसी-लिए आयी हूँ।

श्रीराम ने माँ का आशीर्वादात्मक वर्धापन प्राप्त किया। अंजनी माता के पूछने पर श्रीराम ने बताया कि माता यह लक्ष्मण तो मेघनाद से लड़ा था और मैं रावण से। हनुमान् तब पास में ही खड़े थे। माता अंजनी क्रुद्ध होकर हनुमान् को धिक्कारने लगीं और बोलीं—"हनुमान् तू मेरी आँखों से ओझल हो जा। तूने मेरी कोख को लजा दिया। तेरी माँ अब तेरा मुँह देखना नहीं चाहती। मैंने तुझे अपना स्तन्यपान कराया है। मेरे दूध की धार पत्थर को भी फोड़ देती है। उस दूध को तूने पिया है; फिर भी तेरे होते हुए राम को लंका जाकर युद्ध करना पड़ा। मैं निपूती रह जाती, तो अच्छा था हनुमान्!"

अंजनी माँ के इन शब्दों को सुनकर राम ने माता के चरण पकड़ लिये और क्षमा माँगी—"माता! क्रुद्ध न होओ। तुम्हारे दूध का पान करनेवाले हनुमान् में वैसी ही शक्ति है। हनुमान् अकेले ही लंका के सब राक्षसों का विनाश करके तथा रावण को मारकर सीता को अयोध्या ला सकते थे; किन्तु माँ! हनुमान् ने वैसा इसलिए नहीं किया कि विजयश्री तब राम को न मिल पाती। जीत का सेहरा मेरे सिर पर बँधवाने के लिए ही हनुमान् मुझे लंका ले गये थे। मैं तो नाम को ही लड़ा था। सारा काम हनुमान् ने ही किया है, माता!"

श्रीराम के शब्दों से माता को शान्ति मिली। फिर श्रीराम से कुछ मुख्य बातों के लिए माँ ने कहा—"बेटा राम! अब तुम्हारा राज्य रामराज्य कह-लाएगा, अतः रामराज्य में कभी कुछ गलत न हो जाए।" "क्या माँ? कैसा माँ?" लक्ष्मण श्रीराम के पास ही बैठे थे। माता अंजनी ने कहा—"सुनो राम! रामराज्य में कभी अकाल न पड़े। रामराज्य में कोई अशिक्षित, दुराचारी, दरिद्र और दुखी न रहे।" राम ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! लिख ले।" "रामराज्य में किसी पिता के आगे उसके पुत्र की मृत्यु न हो। रामराज्य में कोई स्त्री विधवा न हो।" "लक्ष्मण! लिख ले।"

श्रीराम ने माता अंजनी की सारी इच्छाएँ नोट करा दीं और फिर माता अंजनी सबको असीस देकर बिदा हो गयीं।

तुलसी 'मानस' के प्रभु जब अमराई को अर्थात् साकेत-धाम को जाने लगे, तब हनुमान् अपने प्रभु के साथ थे। प्रभु ने कहा "हनुमान्! तुम संसार में रहो। मेरे दण्ड की पताका बनकर अब तक लक्ष्मण रहे हैं, उस पताका में अब तुम समाविष्ट हो जाओ। मेरे जीवन-संदेशों को तुम इस संसार में

साकार जीवनरूप प्रदान करना। यह तुम्हारा प्रमुख कार्य होगा।" प्रभु कह रहे थे, हनुमान् नतशिर होकर सुन रहे थे। हनुमान् का नतानन होना स्वीकृति का सूचक था।

पवनपुत्र हनुमान् की भक्ति उस ऊँचाई पर पहुँच गयी थी, जहाँ दास, दास्यभाव और स्वामी एक हो जाते हैं। हनुमान् का अंग-अंग श्रीराममय था, इसलिए उनके हृदयदेश में भगवान् राघवेन्द्र सदा वास करते थे। हनुमान् की भक्ति शाश्वत थी, राममय थी। हनुमान् के रोम-रोम में, श्वास-श्वास में तथा प्राण-प्राण में राम थे। उनका सपूर्णअस्तित्व राम के लिए था; राममय था।

पवनपुत्र अंजनीनन्दन कपीश्वर हनुमान् भगवान् राघवेन्द्र की सेवा में सर्वतोभावेन पूर्णतः समर्पित थे। इसी अनन्य भाव की निर्भरादास्य भक्ति के कारण भगवान् श्रीराम भक्त हनुमान् के आजीवन ऋणी रहे। श्रीराम ने अपने से ऊंचा अपने भक्त हनुमान् को माना। कपीश्वर हनुमान् को ही नहीं, उनके साथी सभी वानरों को भगवान् राघवेन्द्र ने आदर और स्नेह प्रदान किया। श्रीराम के इस स्नेह भाव का संकेत तुलसीदास ने **'मानस'** के बालकाण्ड में किया है—

"प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥"

(मानस, बाल०, २६(क)/-)

ऋणी भगवान् राघवेन्द्र तरु-तले बैठे है और उसी वृक्ष की शाखाओं पर कपीश्वर हनुमान् सहित अन्य वानर कल्लोल क्रीडा कर रहे हैं। उन्हें देखकर प्रभु रामचन्द्र जी फूले नहीं समाते। हर्षातिरेक से प्रभु आह्लादित हैं, भावविह्वल हैं। वे सच्चित् अब सच्चिदानन्द हो गये हैं।

कपीन्द्र पवनपुत्र का आभार-भार लेकर रिनिया श्रीराम प्यारे सेवक की प्रीति और सेवा का गुणगान करते-करते साकेतधाम चले गये; अन्तर्धान हो गये। श्री शंकर पार्वती से कहते है कि पार्वती! यह सुखद सौभाग्य प्रभु की ओर से केवल दासेश्वर पवनपुत्र को ही मिला है—

"गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई॥"

(मानस, उत्तर०, ५०/६)

○ ○

१६. भक्त-बलिदानी जटायु

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' मे श्रीरामचन्द्र जी की प्रथम भेंट जटायु से तब होती है, जब श्रीराम सीता जी और लक्ष्मण के साथ अगस्त्य ऋषि के आश्रम से पंचवटी को जा रहे हैं। तुलसी मात्र इतना लिखते है—

"गीधराज सैं भेंट भइ, बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।"
(मानस, अर०, १३/-)

'मानस' के पाठक को इससे जटायु का कुछ परिचय प्राप्त नही होता। वाल्मीकि (वाल्मीकिरामा०, अर०, सर्ग १४) ने जटायु का विस्तारसहित परिचय दिया है। वाल्मीकिरामायण मे जटायु स्वयं अपना वंश-परिचय श्रीराम के समक्ष प्रस्तुत करता है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्ष प्रजापति की आठ कन्याओं में एक ताम्रा थी। ताम्रा की पाँच कन्याओं मे एक का नाम श्येनी था। श्येनी का विवाह अरुण से हुआ था, जो विनता का प्रथम पुत्र था। विनता के द्वितीय पुत्र का नाम गरुड़ था। श्येनी के दो पुत्र थे—एक संपाती और दूसरा जटायु।

दुष्ट रावण जब छल से सीता को हर के आकाशमार्ग से ले जा रहा था, तब विलाप करती हुई राघवेन्द्रपत्नी सीता जी को जटायु ने पहचान लिया और सीता जी को धैर्य बँधाते हुए साहसपूर्वक उच्चस्वर से कहा—

"सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥"
(मानस, अर०, २६/६)

सीता जी को जटायु ने 'पुत्रि' सम्बोधन किया और सीता नाम भी लिया। इसकी व्याख्या भारत की अन्य रामायणों में मिलती है। 'पुत्री' शब्द से तात्पर्य है, 'पुत्र-वधू'। सीता जी जटायु की पुत्रवधू है; क्योंकि राजा दशरथ के मित्र हैं जटायु। अतः दशरथ की पुत्रवधू जटायु की भी पुत्रवधू है।

जटायु की मित्रता राजा दशरथ से कैसे हुई—इसकी घटनाएं भारतीय रामायणों मे अलग-अलग मिलती है।

आग्नेयरामायण में प्रसग आता है कि राजा दशरथ कौशल्या से विवाह करने जा रहे थे। मार्ग मे सरयू नदी पार की। तब रावण ने उनकी नौका को विनष्ट कर दिया। ऐसी विषम स्थिति मे जटायु ने अपनी पीठ पर बिठाकर राजा दशरथ को पार पहुँचाया।

एकनाथकृत मराठी की भावार्थरामायण मे प्रसग है कि देवराज इन्द्र के सहायक के रूप मे राजा दशरथ नमुचि से युद्ध कर रहे थे। नमुचि का शिरस्त्राण बहुत मजबूत था। उस शिरस्त्राण के सिर पर रहते हुए नमुचि मर नही रहा था। जटायु नमुचि के उस शिरस्त्राण को लेकर ऊपर आकाश में उड़ गया और फिर दशरथ ने युद्ध मे नमुचि का प्राणान्त कर दिया। अतः जटायु दशरथ का मित्र बन गया।

कृत्तिवासकृत बँगलारामायण मे कहा गया है कि राजा दशरथ के राज्य में शनि के प्रकोप से अकाल पड़ा। राजा दशरथ से प्रजा को दुखी न देखा गया। वह धनुष-बाण लेकर शनि से लड़ने के लिए चल दिये। शनि के प्रकोप से जब राजा दशरथ आकाश मे नीचे गिर रहे थे, तब जटायु ने राजा दशरथ को अपनी पीठ पर ले लिया। इस तरह जटायु ने राजा दशरथ के प्राण बचाये। इस घटना से जटायु और राजा दशरथ मे मैत्री हो गयी।

८ भक्ति में प्रमुख वर्ग दो हैं—(१) साधना भक्ति वर्ग (२) भावना भक्ति वर्ग। साधना भक्ति के नौ भेद भागवत मे बताये गये हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य सख्य और आत्मनिवेदन। यह नवधा भक्ति कहलाती है। भावना भक्ति वर्ग में पाँच भाव प्रमुख हैं। भक्तो के भावो की दृष्टि से भक्ति के पाँच भाव इस प्रकार हैं—(१) शान्तभाव की भक्ति, जिसमे भक्त अपने आराध्य को भगवान् मानकर पूजता है, जैसे प्रह्लाद और ध्रुव की भक्ति। (२) दास्यभाव की भक्ति, जिसमे भक्त भगवान् को स्वामी मानता है, जैसे हनूमान् की भक्ति। (३) सखाभाव की भक्ति, जिसमें भक्त भगवान् को सखा मानता है, जैसे सुग्रीव की भक्ति। (४) कान्ताभाव या माधुर्यभाव की भक्ति, जिसमें भक्त भगवान् को पति मानता है, जैसे गोपियों की भक्ति। (५) वात्सल्यभाव की भक्ति, जिसमे भक्त भगवान् को पुत्र मानता है।

तुलसीकृत रामचरितमानस भक्तिप्रधान काव्य है। इसमें प्रायः सभी पात्र भगवान् के भक्त हैं। वात्सल्य भाव की भक्ति के अन्तर्गत दशरथ, कौशल्या, शबरी और जटायु आते हैं। श्रीराघवेन्द्र जटायु की वात्सल्यभाव की भक्ति

के आलम्बन है। वहाँ भक्त पिता-रूप मे और भगवान् पुत्र-रूप में हैं। जटायु वात्सल्य भाव की भक्ति को सफल बनाता है, पुत्रवधू सीता के सतीत्व की रक्षा में अपने को बलिदान करके।

जिस युग मे नारी के सतीत्व की रक्षा मे पक्षी तक अपने प्राणों की आहुति देते हो, उस युग मे सद्मानवों के सदाचरण की ऊँचाई कितनी होगी—आज का नैतिकताहीन व्यभिचारी समाज कुछ क्षण यदि इस पर विचार कर ले, तो स्वर्ग मे तुलसी की आत्मा को धैर्य-सा बँध जाए। एक नारी के शील, सम्मान और सतीत्व की रक्षा में कितने आदिवासी नरों और वानरो ने अपने प्राणो को हथेली पर रख लिया था—'मानस' के पाठक तुलसी की इस युगीन प्रामणिकता पर विवेकपूर्वक कुछ विचार-विमर्श करे और महाकवि तुलसी को शत-शत प्रणाम करें।

रावण सीता जी को रथ मे बिठाकर आकाश मार्ग से जा रहा था। सीता जी विलाप करती जा रही थी—"हा, ससार मे एकमात्रवीर श्रीराघवेन्द्र! मेरा क्या अपराध था, जो आपके द्वारा मै त्यागी गयी? हा लक्ष्मण! तुम्हारा कोई दोष नही, मैंने हठ करके तुम्हे श्रीराम के पास भेजा था। मेरे स्वामी मुझसे बहुत दूर हो गये है। कौन अब मेरी खबर उन्हें सुना सकता है? आज यज्ञ के हवि को गधा खाना चाहता है।"

गीधराज जटायु की भेंट पहले श्रीराम, सीता जी और लक्ष्मण से हो चुकी थी। उसने सीता जी की आर्तवाणी सुनकर उन्हे पहचान लिया कि आकाश में विलाप करतेहुए जो आ रही है, वे रघुकुलतिलक श्रीराघवेन्द्र की प्राणप्रिया श्रीसीता जी हैं। उस समय गीधराज जटायु आकाश मे रावण के रथ से ऊपर उड़ रहे थे। जटायु ने अपने नीचे के आकाश में देखा कि सीता जी कपिलागाय की भाँति कसाई रावण के वश में विवश हैं। तब रावण को ललकारते हुए विक्रुद्ध गृध्रराज जटायु रावण पर तुरन्त ऐसे झपटे, जैसे इन्द्र का वज्र पर्वतों पर टूट पडता है। जटायु की चोंच की चोटो से रावण का रथ पृथ्वी पर गिर पडा। रावण भी रथ से अलग होकर पृथ्वी पर गिर गया। तब जटायु ने सीता जी को एक ओर बिठा दिया और चोंच मार-मार कर रावण के शरीर को विदीर्ण कर दिया। तब रावण १ दंड अर्थात् ६ क्षण (२४ मिनट) तक मूर्च्छित पड़ा रहा। फिर होश मे आने पर क्रुद्ध होकर उसने अपनी भयानक कटार निकाली और जटायु के पंख काट दिये। उधर रावण

सीता जी को लेकर चला गया और इधर बलिदानी जटायु भगवान् राम के चरणों का ध्यान करते हुए वहीं पृथ्वी पर पड़ा रहा।

तुलसीदास लिखते हैं कि श्रीराम ने जटायु को उस समय क्षत-विक्षत अवस्था में देखा। वह श्रीराम के कुलिशादिचिह्नित चरणों का ध्यान कर रहा था—

"आगे परा गीधपति देखा।
सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा॥"
(मानस, अर०, ३०/१८)

जब भगवान् राघवेन्द्र लक्ष्मणसहित सीता को खोजते-खोजते उस मार्ग पर आये, तब उन्होंने जटायु को रक्त और धूल में लथ-पथ 'राम-राम' जपते हुए पाया। श्रीराघवेन्द्र ने जटायु की उस दशा का कारण पूछा। वृद्ध जटायु ने श्रीराघवेन्द्र से निवेदन किया—

"नाथ दसानन यह गति कीन्हीं। तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्ही॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥"
(मानस, अर०, ३१/२,३)

श्रीराघवेन्द्र ने बड़े श्रद्धा-भाव से पितृतुल्य गृध्रराज जटायु को अपनी गोद में बिठा लिया। अपनी जटाओं से धीरे-धीरे जटायु के शरीर की धूल झाड़ी और रक्त पोंछा। बहुत देर तक अश्रुपूरितनेत्र श्रीराम अपने हाथों से जटायु के शरीर को सहलाते रहे। श्रीरामचन्द्र ने जटायु से प्रार्थना की कि "श्रद्धेय तात ! तुम्हारी इच्छा हो तो, तुम पुनः स्वस्थ होकर अभी इस संसार में रह सकते हो।" उत्तर में गृध्रराज बोले कि "मेरे भाग्य का उदय हो गया। सौभाग्य से मैंने चर्मचक्षुओं से आपके दर्शन कर लिये। अब शरीर रखने से लाभ क्या ?"

इन शब्दों को सुनकर भगवान् श्रीराघवेन्द्र आश्वस्त हो गये और जटायु को अपने धाम भेजने का निश्चय कर लिया।

मानव-जीवन की शुभयात्रा के मनोरम पड़ाव परम दिव्य हैं। सुन्दर वस्तुओं को देखकर हम सुन्दर विचारों की ओर बढ़ते हैं। सुन्दर विचारों से शिवता प्राप्त करते हैं। शिवता के पड़ाव से आगे चलते हुए सत्य के दर्शन होते है। भगवान् श्रीराघवेन्द्र सुन्दर है, शिव है और सत्य हैं। जब जटायु ने एक साथ सुन्दर, शिव और सत्य को पा लिया था, तब उसे जीवन में क्या पाना

शेष रह गया था ? इसलिए जटायु ने इस संसार में रहने के लिए मना ही कर दिया। कल्पवृक्ष की शीतल छाया को पाकर कौन बबूल की छाया में बैठना चाहेगा ? चिन्तामणि को पाकर कौन कंकड़ को लेना चाहेगा ? कामधेनु को छोड़कर बकरी को कौन पसन्द करेगा ? करुणासागर भक्तहितकारी भगवान् के लोक को त्यागकर असार मर्त्यलोक में रहने की इच्छा कौन करेगा ? कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं। इसीलिए जटायु ने अपनी आत्मा को सुन्दर-शिव सत्य के समन्वयात्मक दिव्यतम अस्तित्व के लिए पूर्णतः समर्पित कर दिया।

भक्ति में द्वैत भाव की शाश्वत सत्ता है। अद्वैतवादी ज्ञान-धारा में ब्रह्मैक्य-मोक्ष का महत्त्व है। द्वैतवादिनी भक्ति में तो भक्त की आत्मा भगवान् के साथ रहने में ही परमानन्द प्राप्त करती है। भगवान के पास आत्मा का निवास मुक्ति कहलाता है। मुक्तियाँ पाँच प्रकार की मानी गयी हैं—(१) सालोक्य मुक्ति, जिसमें जीवात्मा भगवान् के लोक में रहती है। (२) सामीप्य मुक्ति जिसमें जीवात्मा भगवान् के समीप रहती है। (३) सायुज्य मुक्ति, जिसमें जीवात्मा भगवान् में लीन हो जाती है। अर्थात् आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। (४) सारूप्य मुक्ति, जिसमें जीवात्मा भगवान् का रूप ग्रहण करती है। (५) सार्ष्ट्य मुक्ति, जिसमें जीवात्मा भगवान् के ऐश्वर्य को पा लेती है। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ इनका समर्थन करता है।

ज्ञान और भक्ति में भक्ति अपेक्षाकृत सुगम है। ज्ञान के लिए विद्या अनिवार्य है। भक्ति के लिए विद्या या अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं। भावना भक्ति में तो किसी साधन की आवश्यकता नहीं। भक्त भगवद् प्रेम (भक्ति) की गहराइयों में गहरा उतरता जाता है और फिर अन्त में भक्त और भगवान् में कोई विशेष भेद नहीं रह जाता। इसी अवस्था का नाम सायुज्य मुक्ति है। नैकट्य की दृष्टि से पाँचों प्रकार की मुक्तियों में सायुज्य मुक्ति को सर्वोच्च माना जा सकता है। भक्ति में भगवान् के नैकट्य का महत्त्व इसीलिए है कि भक्त वहाँ भगवान् के दर्शन-ध्यान में ही सदा निरत रहता है। परिणाम यह होता है कि भक्त की सारी वृत्तियाँ भगवान् में अनुस्यूत एवं ओत-प्रोत होकर एकरस हो जाती हैं। वृत्तियों का एकरस होना ही भक्ति का अपना आनन्द है। वह आनन्द सच्चिदानन्द को आलम्बन मानकर ही प्राप्त होता है।

जटायु मात्र भक्त ही नही है, बलिदानी भी है, परोपकारी है और सन्त है। परोपकार में जटायु ने प्राणों को होम दिया। जटायु का जीवन एक कमल पुष्प है। कमल मुरझाने पर भी सुगन्ध देता रहता है। बलिदानी जटायु परोपकार मे अपने प्राणो की आहुति दे गया। उस दिव्य कमल की सुगन्ध दसो दिशाओं में फैली और अब भी फैल रही है। जीवनपुष्प वही श्लाघनीय और वन्दनीय है, जो मुरझाने के उपरात भी गन्ध देता रहे। कमल और गुलाब ऐसे ही पुष्प हैं, जो मुरझाने के बाद गन्ध भी देते रहते है।

पाँचो प्रकार की मुक्तियो मे जटायु ने वात्सल्य भाव की भक्ति के द्वारा भगवान् के धाम को प्रस्थान किया और सारूप्य मुक्ति प्राप्त की, अर्थात् जटायु की आत्मा ने वस्त्रलकार सहित भगवान् का रूप पाया। महात्मा तुलसीदास लिखते हैं—

"गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।।"

(मानस, अर०, ३२/१)

जीवात्मा महाकारण शरीर के साथ सारूप्य मुक्ति प्राप्त करती है। शरीर चार प्रकार के होते हैं—(१) **स्थूलशरीर** (२) **सूक्ष्मशरीर** (३) **कारणशरीर** (४) **महाकारणशरीर**। स्थूलशरीर की भाँति सूक्ष्मशरीर भी आकार मे वैसा ही होता है। अन्तर लघुता का है। गर्भ मे प्रवेश करते समय सूक्ष्मशरीर मे आकारपरिवर्तन अधिक हो जाता है। जैसे जल पात्रानुसार आकार ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी आकार ग्रहण कर लेता है। सूक्ष्मशरीर भी घूमता-फिरता है। उसमे भी कर्मबंधन है। कारण शरीर मे कर्मबधन नहीं है, लेकिन कारणशरीर मे तृप्ति नही है। उसमे आनन्द, करुणा, क्षमा आदि भाव निवास करते हैं। महाकारणशरीर मे पूर्ण सत्य का खुला प्रकाश मिलता है। इसमें ही जीव ब्रह्मरूप प्राप्त करता है। महाकारणशरीरीजीव मे और ब्रह्म मे थोडा अन्तर रहता है।

जब गृध्रराज जटायु भगवान् के उसी लोक को जा रहा था, जिस लोक मे कि श्रीराम के पिता राजा दशरथ गये थे तब श्रीराघवेन्द्र ने जटायु से प्रार्थना की कि "तात ! आप मेरे पिता जी से सीता-हरण की बात कृपया न कहे। यदि मेरा नाम राम है, तो रावण ही अपने मुँह से पिता जी को सीता-हरण की सूचना देगा।" तुलसीदास **'गीतावली'** मे श्रीराम के उस निवेदन को इन शब्दों मे व्यक्त करते हैं

"सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों ह्वैहैं अधिक अँदेसो।
रावरे पुन्यप्रताप-अनल महँ अलप दिननिरिपु दहिहैं।
कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहैं।
सुनि प्रभु बचन राखि उर मूरति चरनकमल सिर नाई।
चल्यो नभ सुनत राम-कल-कीरति अरु निज भाग बड़ाई॥"

(गीतावली, अर०, पद १६)

भावजगत् मे वात्सल्य भाव के जीवन्तविग्रह तथा कर्मक्षेत्र के कर्मठ बलिदान के स्वरूप गृध्रराज जटायु अपने करणीय कर्म को प्राणपण से निभाते हुए इस संसार मे अमर हो गये।

जटायु वात्सल्य भाव का भक्त है। वात्सल्य प्रेम का ही एक रूप है। प्रेम और मोह मे बहुत अन्तर है। प्रेम (भक्ति) का आलम्बन वही हो सकता है, जो देश-काल के परे तथा नित्य हो। मोह का आलम्बन परिवर्तनशील व्यक्ति होता है। प्रेम मे प्रेमी प्रेमालम्बन के प्रति अपने को समर्पित करता है। वह प्रेमालम्बन ही प्रेमी का साध्य होता है। प्रेम के पर्वत से अनेक देवसरिताएँ निस्सृत होती है। चर-अचर-सेवा की भावसरिता भी प्रेम के नगाधिराज से ही निकलकर बहती है।

प्रेमी प्रेमालम्बनरूपी साध्य की प्राप्ति के लिए जो साधन जुटाता है, वे भी महान् होते हैं; दिव्य होते है। प्रेमी प्रेमास्पद के लिए अपने को समर्पित करके दिव्यतम बनता है; मरकर अमर होता है। देह से मिटकर आत्मा से अमिट बनता है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने जटायु से प्राणवन्त देह धारण करते रहने की प्रार्थना भी की थी; किन्तु जटायु ने मना कर दिया। कारण स्पष्ट है कि देह-धारण से व्यक्तित्व का मोह सम्भव है और व्यक्तित्व का मोह रहते हुए सकल्प-विकल्प का प्रवाह भी चलता ही रहेगा। उस प्रवाह के कारण व्यक्ति दीन तथा अनाथ ही बना रहेगा। अत जटायु अपने प्रेमास्पद परम दीनानाथ को पाकर अब अनाथ बनना नही चाहता। शाश्वत सारूप्य चाहता है।

भले ही रावण की कृपाण से जटायु के पंख कट गये हो, किंतु वे सबके लिए अमर है और क्रूरकर्मा रावण सबके लिए मृत है। मृत्यु की सूचना के लिए ही राम-लीला मे रावण प्रति वर्ष जलाया जाता है। कर्मठ कर्मशील

जटायु वंदनीय शाश्वत जीवन छवि है, और रावण घृणित शाश्वत शव है। 'शिव' में 'इकार' सत् शक्ति का प्रतीक है। रावण ने सत् शक्तिस्वरूपा सीता का अपमान किया था। अतः रावण शिव का उपासक होते हुए भी शिवत्व को प्राप्त न होकर शवत्व को प्राप्त हुआ। यह सब मन की आँखों की दृष्टि का परिणाम था। जो सीता जटायु के मानसनेत्रों में पुत्रवधू थी, वही सीता रावण के कलुष मन की आँखों में सामान्य नारी थी; इसीलिए जटायु दिव्य-प्रकाशपुंज बना और रावण घोर घृणितअंधकार। प्रकाश सत्व गुण है, अंधकार तमोगुण है।

⊙ ○

१७. काकरूप जयन्त और यथापराधदंडी श्रीराघवेन्द्र

'मात्सर्य' उपकार का विरोधी भाव है। उपकारी स्वयं प्रसन्न रहता है और दूसरों को भी प्रसन्न देखना चाहता है; लेकिन मत्सरी स्वयं तो ईर्ष्या की आग में जलता ही है, साथ में दूसरे को भी दुखी देखना चाहता है। यदि दूसरा दुखी हो, तो मत्सरी या ईर्ष्यालु को कुछ क्षण चैन-सा पड़ता है। ईर्ष्यालु जब-जब किसी अन्य को सुख-सम्पन्नता में देखता है, तब-तब उसे मानसिक पीड़ा होती है। उस पीड़ा की शान्ति के लिए ईर्ष्यालु जीवन भर दूसरों का अनिष्ट ही सोचता है और यथाशक्ति अनिष्ट करता भी है। कभी-कभी तो दूसरों के अनिष्ट के लिए ईर्ष्यालु अपना अनिष्ट करने के लिए भी उतारू हो जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने ईर्ष्या (मानस उत्तर०, १२१/३३) को खाज-रोग बताया है। ईर्ष्या मनुष्य के मन की असाध्य खाज है। यह वह विकट खुजली है, जो मन को लोहलुहान बना देती है। परोत्कर्ष के शीत को देखते ही ईर्ष्यारूपी खुजली मन को बेचैन कर देती है। ईर्ष्या के आलम्बन को ईर्ष्यालु सम्पन्न मानता है और अपने को विपन्न तथा अभावग्रस्त। अभाव की अनुभूति महादुःख का भी कारण बन जाती है। अभाव की अनुभूति का नाम ही दरिद्रता है।

जिस मन में अनेक इच्छाएँ और याचनाएँ जन्म लेकर अपूर्ण रहती हैं, वह **दरिद्र मन** ही माना जाएगा। जिस मन को कोई चाह नहीं है, वही मन शहंशाह है। ऐसे मनवाले व्यक्ति को चक्रवर्तियों का भी अधीश्वर मानना चाहिए।

जब भक्त प्रह्लाद से नृसिंह भगवान् ने यथेच्छ वर माँगने के लिए कहा था, तब प्रह्लाद ने यही प्रार्थना की थी कि "हे वरदानिशिरोमणि स्वामी!

यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं, तो यही वर दीजिए कि मेरी हृदयभूमि में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही न हो।"—

(भागवत, स्कध ७/अ० १०/७)।

उपकार मे उभयपक्षीय शीतलता है, ईर्ष्या मे स्व-पक्षीय जलन है। ईर्ष्या की जलन एक प्रकार से पराजय की जलन है। ईर्ष्यालु जिससे जलता है, उससे मानसिक धरातल पर पराजितहुआ होता है। पराजय की स्थिति मे पगु बना हुआ ईर्ष्यालु कुछ कर तो नहीं पाता, बस जलता है, जलता रहता है, आजीवन निरन्तर जलता ही रहता है। परिणाम यह होता है कि ईर्ष्यालु अनेक शारीरिक-मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है।

ईर्ष्यालु की इच्छा-पूर्ति येन-केन प्रकारेण हो जाए, इसलिए वह दूसरे का अनिष्ट करने के लिए कई तरह की क्रूर योजनाएँ भी बनाता है। वे योजनाएँ चतुराई से तो दूर होती है, किंतु चालाकी से पूरी तरह भरीहुई होती हैं। उन योजनाओं के अकुरों की जड़ें शुद्ध जल मे नही, गन्दी बदबूदार कीचड़ मे होती है।

'चतुराई' और 'चालाकी' को मूर्तरूप मे प्रकट करने के लिए हमारे साहित्य मे प्राय. दो पक्षी प्रतीक रूप मे गृहीत हुए है। हंस चतुराई के लिए और कौआ चालाकी (स्यानपन) के लिए प्रतीक माना गया है। हस का भोजन मोती और दूध है; कौए का भोजन बलगम, श्लेष्मा, मास, विष्ठा आदि है। मानसकार तुलसी तथा अन्य पूर्ववर्ती रामायणकारो ने इन्द्र-पुत्र जयन्त को जो काकरूप मे चित्रित किया है, उससे उनका अभीष्ट सहज मे शीघ्र सिद्ध हो जाता है। यों उस काल में हंस भी थे; लेकिन वाल्मीकि, रामशर्मन्, तुलसी आदि जयन्त को काकरूप मे ही प्रस्तुत करते हैं, हंस या अन्य पक्षी के रूप मे नही।

कभी-कभी लोक और साहित्य मे शब्दों का ध्वनि-विकास और अर्थ-विकास विचित्र ढंग से होता है।। सं० 'सज्ञानक' शब्द कुछ काल के पश्चात् 'सयाना' या स्याना बन गया और अर्थ मे भी हेठा (विकृत) हो गया। लोक मे 'स्याना' चालाक के अर्थ में ही अधिक गृहीत हुआ। 'सयाना' कभी 'चतुर' अर्थ देता होगा, अब नही। अब तो इसकी स्थिति हिन्दी के 'पोंगा' शब्द की भाँति घटिया ही है। एक समय था जब सस्कृत का 'पुंगव' शब्द श्रेष्ठ अर्थ देता था। महाभारत में 'पुगव' शब्द श्रेष्ठ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बहुत से शब्द तो संज्ञा और विशेषण दोनो रूपो में प्रचलित हैं। 'मौन' की ऐसी ही स्थिति है। इसका अर्थ 'चुप्पी' है, और 'चुप' भी।

संस्कृत में एक शब्द 'काण' है, जो संज्ञा भी है और विशेषण भी। संज्ञा रूप में यह 'कौआ' है और विशेषण रूप में यह 'काना' (=एक आँख का) है। सं० काण =कौआ। स० काण =काना। सभवतः इसी कारण लोक में प्रचलित हो गया कि "कौआ काना होता है।" इतना ही नहीं, यह भी प्रचलित हो गया कि "कौआ काना होता है और कौआ स्याना होता है।" लोक में कौआ, काना, और स्याना —ये तीनों ही शब्द अर्थ की भूमि पर आकर ऐसे गले मिले कि अन्तिम दोनो शब्द कौए के शाश्वत स्वभाव एवं अवगुण-सूचक-विशेषण बन गये। लोक में तो 'काना' आदमी बड़ा ऐबी माना जाता है। प्रचलित है—

"सौ पै कुली, सहस पै कानौ,
ता के ऊपर ऐंचा—तानौ।"
(ब्रजलोक-कहावत)

लगता है सं० 'काण' शब्द के दोनों अर्थों से वाल्मीकि, रामशर्मन् और तुलसी अवगत होंगे, इसीलिए उन्होंने इन्द्र-पुत्र जयन्त को श्रीरामचन्द्र जी के पास कौए के रूप में भेजा है और श्रीराम के बाण से उसकी, एक आँख फुड़वाकर उसे काना बनाया है। जब पुरखा ही काना बन गया, तब उसके वंशज भविष्य में काने बनेंगे ही। अतः आज भी लोक में प्रचलित है कि "कौए की एक आँख में ही पुतली होती है। वही एक पुतली यथावसर दोनो अक्षिगोलकों में आती-जाती रहती है।" लोक ऐसा ही मानता है; विज्ञान भले ही न माने।

श्रीराम-जयन्त-प्रसंग बताता है कि काकरूप जयन्त की एक आँख फोड़ी गयी। वाल्मीकिरामायण में दाहिनी आँख फोड़ी गयी है और अध्यात्मरामायण में बायीं। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में दायीं-बायीं का निर्देश नहीं है, केवल कोई एक आँख फोड़ी गयी है। तुलसी लिखते हैं—

"एक नयन करि तजा भवानी"
(मानस, अर०, २/१४)

राजा दशरथ चक्रवर्ती राजा थे। दशरथ नाम इसीलिए था कि उनका रथ (युद्ध-रथ) दसों दिशाओं में अबाधगति से जा सकता था। दिशाएँ दस हैं—(१) पूर्व (२) पश्चिम (३) उत्तर (४) दक्षिण (५) ईशान (उत्तर-पूर्व के बीच) (६) आग्नेय (पूर्व-दक्षिण के बीच) (७) नैर्ऋत (दक्षिण-पश्चिम के बीच) (८) वायव्य (पश्चिम-उत्तर के बीच) (९) आकाश (१०) पाताल

दशरथ की कीर्ति 'चौदहो भुवनो, में छायी हुई थी। देवाधिपति इन्द्र राजा दशरथ को सादर आमन्त्रित किया करते थे। इन्द्रदेव सिंहासन से उठकर और आगे बढ़कर राजा दशरथ का आदर करतेहुए अपना अर्धसिंहासन उन्हे बैठने के लिए देते थे। सीता जी ने सुमंत्र के समक्ष अपने ससुर राजा दशरथ के इस वैभव का बखान किया था—

"आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥"
(मानस, अयो०, ९८/४)

अपने पिता इन्द्र की सभा मे इन्द्र-पुत्र जयन्त यह सब देखा करता था और ईर्ष्यालु होने के कारण राजा दशरथ से जला करता था। जलता ही था, कुछ बिगाड तो कर नही सकता था, क्योंकि देवराज इन्द्र राजा दशरथ के कृतज्ञ थे, ऋणी थे, उपकृत थे। देवासुर-संग्राम में राजा दशरथ ने ही देवराज इन्द्र को विजयश्री प्राप्त करायी थी। उस संग्राम मे राजा दशरथ के साथ उनकी मँझली रानी कैकेयी भी थी।

दैव के दुर्विपाक से राजा दशरथ बैकुठवासी हो गये। जयन्त की जलन की ज्वाला निरन्तर प्रज्वलित होती रही। पिता से बस न चला, तो पुत्र से, अपनी ईर्ष्या को जयन्त ने तृप्त करना चाहा। ईर्ष्यालु की ईर्ष्या दीर्घजीवी होती है। जयन्त की ईर्ष्या काला कौआ बनकर आयी थी। कौए की भांति चालाक और स्याना जयन्त कौए के रूप मे छिपकर श्रीराम से अपनी जलापट निकालना चाहता था। जयन्त की वह जलन अकारण थी, स्वभावगत; क्योंकि वह स्वभाव से ईर्ष्यालु था, स्याना था। अत. अनिष्टाकांक्षी था।

श्रीराघवेन्द्र के अनुज **लखनलाल** वन मे कही दूर कंद, मूल और फल लेने चले गये हैं। चित्रकूटवन की एक स्फटिक शिला पर श्रीराघवेन्द्र और उनकी प्राणप्रिया श्रीसीता जी बैठी हुई है। अयोध्या से जिस दिन वन-गमन किया गया था, तब से लगभग तीन वर्ष व्यतीत हो गये; प्रभु ने अभी तक महारानी सीता जी का कभी सात्विक श्रृंगार नहीं किया था। उस सरिता को दिव्य जल ने अब तक कभी पूरी तरह सुशोभित नही किया था। श्रीराम के मन मे भी एक टीस-सी थी कि '**जिय बिनु देह नदी बिनु बारी**' भावना-वाली सीता को राम ने क्या दिया आज तक? कुछ नही। अब एक अवसर श्रीराम को मिल भी गया था कि वहाँ लक्ष्मण नहीं थे; एकान्त ही था। श्री रामचन्द्र सुन्दर-सुन्दर सुगंधित सुमन चुनकर लाये और सींको से उन्हे गूथकर

गजरे और हार बनाने लगे। कुछ कुसुम सीता जी के सिर के बालों में भी लगाये। श्वेत–रक्त गैरिक से आनन पर पत्रावली भी बनायी। श्रीराम भद्र और श्रीसीता जी का यह प्रणय–आमोद ईर्ष्यालु जयन्त को सह्य न हुआ और अहंकार के नशे मे चूर होकर वह प्रभु को अपमानित करने के लिए वहाँ आ गया। वह काक कोई पंडित या मुनि तो था नही, जो प्रभु की प्रणयलीला से वैराग्य की अनुभूति प्राप्त करता। वह तो अधर्मी, हरिविमुख, मदमति और महामूढ़ था, इसलिए प्रभु की उस नर–लीला से मोहग्रस्त हो गया और नीच कर्म पर उतारू हुआ।

तुलसी के पात्रो मे लक्ष्मण और हनूमान् आत्मवादी हैं। ये राम और सीता को अभिन्न मानते हैं। श्रीराम शक्तिमान् और सीता जी उनकी शक्ति है। एक दूसरा वर्ग है, जिसमे जयन्त शूर्पणखा और रावण आते है। वे राम और सीता को भिन्न–भिन्न मानते हैं। उनकी गणना देहवादियों मे है। देह-वादी अहंकारी होता है। जयन्त भी अहंकारी है।

पुरुष का सबसे बड़ा अपमान तब समझिए, जब उसके समक्ष उसकी पत्नी को अपमानित किया जाए। दुष्ट ईर्ष्यालु जयन्त ने काक बनकर प्रणयामोद के समय सीता जी के चरण मे चोंच मार दी, रक्त बहने लगा। **वाल्मीकिरामायण** और कृत्तिवास की **बँगलारामायण** मे तो सीता जी के उरोज-स्थल मे जयन्त ने चोंच मारी है। तुलसी के परवर्ती गिरधर की गुजराती रामायण मे भी वैसी ही अश्लीलता है। दुष्ट जयन्त की यह महाक्रूरता, महा-नीचता और घोर वासनामयी चरित्रहीनता ही मानी जाएगी, लेकिन गोस्वामी तुलसीदास को जगज्जननी जानकी के प्रति वैसा व्यवहार कभी स्वीकार्य नही, अतः **'रामचरितमानस'** की सीता के चरणों मे ही काकरूप जयन्त ने चोंच मारी है। जयन्त की क्रिया मे अहंकार, ईर्ष्या, काम और अविवेक का सन्निवेश है। प्रभु उसे उसकी नीचता का पाठ पढाना चाहते है। उस दुष्ट को वे अपने असीम बल के परमाणु के सहस्रांश की एक झलक भी दिखाना चाहते हैं। अतः सीक के धनुष पर सीक का ही बाण चढाकर प्रभु ने छोड़ दिया, जो तीनों लोको में काकरूप जयन्त का पीछा करता रहा, निरन्तर पीछा करता रहा। जहाँ जयन्त, वही पीछे इषीका बाण।

प्रभु अपने असली धनुष पर असली बाण चढाकर उस पिद्दी के लिए क्या चलाते? प्रभु के पास तब वहाँ कुछ सीकें पडी थी। उनमे से ही एक का धनुष बना लिया और उन्ही मे से एक सीक लेकर बाण बनाया और छोड़ दिया।

उस ईर्ष्यालु, मंदमति, महामूढ़ और अहंकारी ने उसे भ्रमवश मामूली सींक समझा था ; किन्तु वह सींक काल-बाण बन गयी । मोहग्रस्त मूर्ख जयन्त नहीं समझा कि प्रभु के हाथ की एक छोटी-सी सींक क्या और कितनी शक्ति और अस्तित्व रखती है ? उनके संकेत पर ही तो परमाणु, लव, निमेष, दिन, मास वर्ष, युग और कल्प काल-बाण बनकर जीवन को नष्ट करते रहते हैं ।

महाकाल की अन्तर्भूत इकाइयों मे दीर्घतम इकाई कल्प है, जिसमे १४ मन्वतर समाविष्ट हैं। इस 'कल्प' नामक कालमान को ४ अरब, ३२ करोड़ वर्षों का माना गया है । इस तरह कल्प, मन्वतर, युग, वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन रात, घण्टे, मिनट, सैकिंड आदि काल-इकाइयाँ बाण है और वह सीमातीत महाकाल उस अनादिशक्तिस्वरूप ब्रह्म का धनुष है । अतः यह कहा जा सकता है कि 'कल्प' उस धनुष का वृहत्तम बाण है और परमाणु उस धनुप का लघुतम बाण है । ये बाण लगते रहते हैं और आयु क्षीण होती रहती है । अनादि-अनन्त महाकाल प्रभु का धनुष है, जिस पर रखकर उन कालबाणों का संधान किया जाता है ।

'कल्प' जिसका एक अल्पतम अंश है वह महाकाल उस परात्पर ब्रह्म का महाधनुष है और काल-खंड ही उस महाधनुष के विभिन्न बाण हैं, जिनके लगने से प्राणियों का अन्त होता रहता है । इसे वह मूढ मदमति काक न जान सका । कैसे जानता ? ईर्ष्या और अहकार के धुएँ से किसकी आँखे बन्द नहीं हो जाती ?

गरुड़पुराण (१५/७७) मे कालमान के साथ साँसों की संख्या (एक दिन मे २१६०० साँसें) का उल्लेख है । सामान्यतया बात-चीत करने में मनुष्य एक मिनट मे ८ से १२ तक साँसें लेता है ।

क्रोध और कामभोग में सबसे अधिक श्वास क्षीण होता है ; अर्थात् एक मिनट में २४ से ३६ तक । साधारणतः एक घण्टे मे ६०० श्वास लिये जाते है । व्यतीत कालांश के साथ जैसे-जैसे श्वास समाप्त होते जाते हैं, वैसे-वैसे आयु कम होती जाती है । ये व्यतीत कालांश ही प्रभु के बाण हैं । इनके लगने से जीवन समाप्त होता जाता है ।

ब्रह्मलोक तथा शिवलोक मे भी उस कौए को किसी ने शरण नहीं दी । सब ने दुत्कार दिया । भगवान् के विरोधी, अहंकारी और ईर्ष्यालु को कौन सत-महन्त शरण देता है ? प्रभु का विरोधी कब किसका भला करेगा ? कभी नहीं , किसी का नहीं । प्रभु की सींक का बाण जयन्त के पीछे-पीछे

लगा फिरा और जयन्त विकल होकर भागता फिरा। अन्त में देवर्षि नारद को दया आ गयी और उसे सलाह दी कि "हे जयन्त ! तुम श्रीराम की ही शरण में जाओ और विनत भाव से उनसे क्षमा माँगो, तभी तुम्हारे प्राण बचेंगे।"

जयन्त ने भगवान् श्रीराम के चरणों में गिरकर क्षमा माँगी और कहा "प्रभो ! त्राहिमाम्, त्राहि माम्। शरणागत की रक्षा करो। मेरे अपराध क्षमा करो।" श्रीराम ने उसकी आर्तवाणी सुनी और एकनयन बनाकर उसे छोड़ दिया और उसका अपराध क्षमा कर दिया। गिरधरकृत गुजराती रामायण का जयन्त तो सीता जी के चरणों में लोटकर दीनभाव से क्षमा माँगते हुए निवेदन करता है कि "माता ! यदि तुम्हारे पुत्र ने स्तनपान कर लिया, तो क्या "बुरा किया। सीता जी फिर क्षमा कर देती हैं।

श्रीराघवेन्द्र जयन्त का अपराध क्षमा क्यों न करते ? वे भी करुणा की मूर्ति श्री सीता जी के पति हैं, प्राणनाथ हैं, करुणानिधान हैं।

लंकानिवासिनी महारानी सीता जी से राम-रावण-युद्ध के उपरान्त विभीषण को लंकेश पद मिल जाने के बाद हनुमान् ने अनुमति माँगी थी कि "माता ! जिन राक्षसियों ने तुम्हें सताया है, उनके मुँह मैं समुद्र की बालू में बुरी तरह रगड़ना चाहता हूँ। कृपया अनुमति दे दीजिए।" तब सीता जी ने हनुमान् से कहा था, "पवनपुत्र ! उन राक्षसियों का कोई दोष नहीं, कोई अपराध नहीं। वे तो रावण की अनुचरी थीं। जीविका के लिए वे, वे सभी कार्य करती थीं, जिनके लिए रावण कहता था। दूसरी बात यह कि "हनुमान् ! कीचड़ से कीचड़ को साफ नहीं किया जा सकता। क्रूरता या क्रोध का बदला क्रोध नहीं है। क्रोध का बदला क्षमा है।" यह प्रसंग कृत्तिवास की बँगला-रामायण में आया है।

राम के पक्ष में अब प्रश्न उठता है कि अपराध तो बालि और रावण ने भी वैसा ही किया था। उन्हें तो प्राणदण्ड दिया गया; लेकिन काकरूप जयन्त को प्राणदण्ड नहीं दिया। एक आँख फोड़कर विदा कर दिया। यहाँ प्रभु का यह दण्ड-विधान कुछ करुणा-मिश्रित है।

रघुवंश में महाकवि कालिदास ने श्रीराम के लिए **'यथापराधदण्डानाम्'** (रघु० १/६) लिखा है। श्रीरामचन्द्र जी ने जयन्त को अपराध के अनुसार ही दण्ड दिया है। बालि और रावण अहंकारी, अत्याचारी और व्यभिचारी थे। उनसे सारी पृथ्वी काँप रही थी। प्रभु के समक्ष उन्होंने प्रायश्चित्त भी नहीं किया था और न क्षमा ही माँगी थी। उनका अहंकार अन्त तक बना रहा। वे शरणागत भी नहीं हुए थे; अतः श्रीराघवेन्द्र ने उन्हें मारा। जयन्त

ने अभिमान त्यागकर, क्षमा माँगी, शरणागत हुआ, प्रायश्चित्त किया और भविष्य में वैसा न करने का व्रत भी लिया। अतः प्रभु ने उसे क्षमा कर दिया; प्राणान्त नहीं किया। जो पापी या अपराधी किसी प्रकार सुधर न सके, उसका प्राणान्त करना ही ठीक है, लेकिन जो सुधर सके या सुधरने का वचन दे, उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिए। छोड़ना ही ठीक है, कुछ दण्ड देकर। जो उठ सकता हो, प्रभु उसे पहले उठाना ही चाहते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब क्षमादान कर दिया, तब फिर एक आँख क्यों फोड़ी? यदि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र अपराध का दण्ड अपराधी को कुछ भी न देते, तो समाज में अपराध करने की छूट मिल जाती। यदि अपराधी को अपराध का कुछ भी दण्ड न मिले, तो फिर समाज में अपराधों का ताँता लग सकता है। समाज की व्यवस्था के दृष्टिकोण से कुछ दंड देना तो परमावश्यक है; इसीलिए प्रभु ने जयन्त को न मारा, न दोनों आँखें फोड़ीं, बल्कि एकनयन करके छोड़ दिया, ताकि उसे संसार देखे और उसकी एक आँख फूटी हुई देखकर दूसरे लोग भी अपराध से डरें और समाज व्यवस्थित रहे। दण्ड और क्षमासहित दण्ड में अन्तर तो होना ही चाहिए; इसलिए समाज और धर्म का समन्वय स्थापित करते हुए श्रीराम भद्र ने काकरूप जयन्त को एकनयन करके छोड़ दिया। काकरूप जयन्त एकाक्षी बनकर यथापराधदंडी भगवान् श्रीराम के चरणों में प्रणाम करके इन्द्रलोक को चला गया। श्रीराघवेन्द्र ने काकरूप जयन्त को एकनयन बनाया। इस दण्ड-क्रिया में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा धर्म और नीति का समन्वयात्मक स्वरूप स्थापित किया गया है। धर्म का सम्बन्ध अध्यात्म से और नीति का सम्बन्ध समाज से है।

प्रभु के इस रहस्य को बिरले भक्तजन ही जानते हैं कि श्रीराम जी ने जयन्त की कौन सी आँख फोड़ी और कौन-सी छोड़ी? बाहरी आँख, जो काम को देखती है, फोड़ दी गयी। अन्दर की आँख जो राम को देखती है, छोड़ दी गयी। तुलसी अपने पाठक को विचार के लिए पहेली छोड़ देते हैं और इतना ही लिखते हैं—

"एक नयन करि तजा भवानी।"

(मानस, अर०, २/१४)

धर्म की स्थिति शुद्ध मन में है। मन मानव-शरीर में निवास करता है। मानव-शरीर समाज के लिए है। नीति सामाजिक सुव्यवस्था के अन्तस् का [illegible] है, इसलिए समाज से पृथक् धर्म अस्थिति की परिकल्पना नहीं की

जा सकती । जब धर्म की हानि होती है, तब दुष्ट, अधम और अभिमानी व्यक्ति समाज में बढ़ जाते हैं ; अथवा यों कहिए कि जब दुष्ट, अधम और अभिमानी बढ़ जाते है, तब धर्म की हानि होती है । अधर्म और अधम साथ-साथ रहते है । धर्म और सज्जन साथ-साथ रहते हैं । नीति जब धर्म का हाथ पकड़कर चलेगी, तभी समाज को उत्कर्ष प्रदान कर सकेगी । समाज-कल्याण के लिए धर्मपरक नीति अथवा नीतिपरक धर्म परमावश्यक है । भगवान् श्री राघवेन्द्र ने धर्म-संस्थापना के लिए ही तो पृथ्वी पर अवतार लिया था । पृथ्वी पर अर्थात् मानव-समाज में । श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्रदत्त दण्ड विधान—"एकनयन कर तजा भवानी"—में समाज—कल्याण का लक्ष्य निहित है ।

तुलसीकृत 'मानस' के जयन्त की कौन सी आँख फोड़ी गयी—इस प्रश्न का एक दूसरा उत्तर इस तरह भी दिया जा सकता है ।

इस आध्यात्मिक पहेली को सुलझाने के लिए हमे मानव—मन की दोनो आँखो को समझना होगा । मानव सत्-मार्ग पर विवेक की आँख से और असत्-मार्ग पर भ्रम की आँख से चलता है । विवेक और भ्रम की आँखो में से प्रभु ने जयन्त की भ्रम की आँख फोड़ दी । वह एकाक्षी बन गया अर्थात् विवेकी बन गया । प्रभु के दंड के गर्भ में भी कल्याण छिपा हुआ है ।

१८. 'मानस' के महेश

राजा हिमाचल की पुत्री विवाहयोग्य हो चुकी थी। संयोग से वीणाधारी नारद जी हिमाचल के यहाँ पहुँचे। नारद जी को वीणा ब्रह्मा से प्राप्त हुई थी। मौन प्रकृति को शब्दायमान करने के लिए विधाता ने सरस्वती पैदा की। सरस्वती कैलाश पर्वत पर सो रही थी। उनका दायाँ हाथ उरोजों पर था। उनकी हस्तमुद्रा मे विधाता ने वीणा का निर्माण किया। उस वीणा से नाद का जन्म हुआ। उस नाद में से ही सरस्वती के गायन के योग से संगीत प्रादुर्भूत हुआ। नारद को ब्रह्मा जी से वीणा तो मिल गयी थी; किन्तु नारद प्रारम्भ मे रागरागिनीबद्ध सगीत न जानते थे। उन्होने बाद मे रागबद्ध संगीत सीखा था। रागबद्ध सगीत का यह प्रसग अद्भुतरामायण मे आया है।

रानी मैना और राजा हिमाचल को पुत्री के विवाह की चिन्ता थी और वे पार्वती के लिए एक योग्य वर चाहते थे। नारद जी ने पार्वती का हाथ देखकर कहा—

> 'जोगी जटिल अकाममन नगन अमंगल बेष।
> अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख।।"
>
> (मानस, बाल०, ६७/–)

वीणाधारी देवर्षि नारद की यह वाणी सुनकर हिमाचल और उसकी मैना को बहुत विषाद और दुःख हुआ। उन दोनो का शरीर पुलकित हो गया और नेत्र आँसुओ से भर गये। उनकी पुत्री पार्वती ने भी नारद जी की वही वाणी सुनी और सुनकर परम हर्ष हुआ। तब पार्वती का शरीर भी पुलकित हो गया और आँसू आ गये।

तब माँ और बेटी की शारीरिक दशा समान थी; लेकिन मनोदशा अलग-अलग थी। माता मैना को विषाद था, लेकिन बेटी पार्वती को हर्ष था। नारद जी ने हस्तसामुद्रिक विद्या के आधार पर वचनावली बोली थी, उसके अर्थ की गहराई को देवर्षि नारद जी भी नहीं जानते थे। अत. माता और पुत्री की अलग-अलग मनोदशा देखकर नारद जी भी आश्चर्य में पड़

गये। वास्तव मे शिव जी का चरित्र है भी ऐसा ही जटिल और गूढ। उसकी गूढ़ता के मर्म को हर कोई नही जान सकता।

देवर्षि के शब्द सुनकर पार्वती को माता मैना समझी कि मेरी बेटी को जो पति मिलेगा, वह **जोगी** (भिक्षाजीवी गृहस्थ व्यक्ति) होगा, **जटिल** (जटाधारी) होगा, **अकाममन** (इच्छाहीन, क्लीव तथा महा आलसी) होगा, **नग्न** (वस्त्रहीन, महानिर्धन) होगा और **अमंगलवेष** (अशुभवेष) होगा।

उन्ही शब्दों को सुनकर बेटी पार्वती ने समझा कि मुझे जो पति मिलेगा—वह **योगी** (अष्टांगयोगसाधक) होगा, **जटिल** (गूढ) होगा, **अकाममन** (काम-कामनारहित), **नग्न** (दिगम्बर—वेषधारी अर्थात् सर्वत्यागी और **अमंगल-वेष** (अशुभ को गलानेवाला) होगा। ये सब लक्षण शिव मे है; इसलिए देवर्षि नारद के वचन सुनकर पार्वती परम प्रसन्न हुई, क्योकि पार्वती को उसके **सदाशिव** पति पुन. मिलेगे। इसका महान् हर्ष पार्वती के मन मे है। पार्वती शिव की शिवा हैं।

नारद जी की उस गूढ गिरा को पार्वती न समझती, तो कौन समझता ? शिवा है, शिव की शक्ति है। शक्ति ही नही, शिव को शक्तिमान् बनानेवाली सृष्टिकारिणी अनादि शक्ति हैं। शिव ताण्डव करते हैं, तो शिवा लास्य करती है। शिवा लास्य से सृष्टि—सर्जना करती है, तो शिव ताण्डव द्वारा सृष्टि-संहार करते हैं। शिव के विषय मे शिवा सब जानती हैं, बाह्य और अतस्, कण-कण, अणु-अणु।

नारद जी के मुख से निस्सृत गिरा का अर्थ भी जटिल और गूढ ही था। गोस्वामी तुलसीदास जी के '**मानस**' के महेश का चरित्र भी '**मानस**' के पाठको के लिए जटिल और गूढ है। तुलसीकृत 'मानस' मे महेश कई रूपों मे हमे दृष्टिगोचर होते हैं।

'रामचरितमानस' के मूल रचयिता महेश हैं। शकर जी ने सर्वथा '**रामचरितमानस**' रचकर अपने मन मे रख लिया था; फिर समय पाकर उसे पार्वती को सुनाया था। चूँकि राम का वह चरित पहले महेश के मानस में आया था, इसीलिए उसका नाम महेश द्वारा '**रामचरितमानस**' रख दिया गया। महात्मा तुलसीदास जी ने 'मानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ मे इसका उल्लेख भी किया है—

> **"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।।**
> **ताते रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।।"**
> (मानस, बाल०, ३५/११,१२)

तुलसी यह भी कहते हैं—

"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥"

(मानस, बाल०, ३०/३)

'रामचरित' के प्रथम स्रष्टा—वक्ता श्री शंकर जी ही हैं। इसी का उल्लेख मानसकार तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की समाप्ति पर उत्तरकाण्ड में किया है—

"यत् पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं।
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतु रामायणम्॥"

(मानस, उत्तर०, अन्तिम श्लोक १)

'मानस' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) मन (२) मानसरोवर। रामचरितरूपी मानसरोवर की चारों पारों पर वक्ता-श्रोता के युग्म हैं। ज्ञान की पार पर वक्ता शंकर जी और श्रोता पार्वती है। भक्ति की पार पर वक्ता काकभुशुण्डि जी और श्रोता गरुड़ जी हैं। कर्म की पार पर वक्ता याज्ञवल्क्य जी और श्रोता भरद्वाज जी है। दैन्य की पार पर वक्ता तुलसीदास जी और श्रोता सन्त जन है।

'रामचरितमानस' में राम-भक्ति और रामचरित के प्रथम वक्ता शंकर जी है; लेकिन राम-कथा के मूल वक्ता अगस्त्य मुनि हैं। राम-कथा को मुनि अगस्त्य से ही शंकर जी ने सुना था—

"रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥"

(मानस, बाल०, ४८/३)

"रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥"

(मानस, बाल०, ४८/४)

उस राम-कथा को शंकर जी ने पार्वती की शंकाओं का समाधान करते हुए सुनाया था। पार्वती जी की प्रथम शंका निर्गुण-ब्रह्म राम के सम्बन्ध में यह थी—

"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥"

(मानस, बाल०, ११०/४)

इस तरह पार्वती जी ने शंकर जी से १२ प्रश्न और किये। उन १२ प्रश्नों के उत्तर देते हुए शंकर जी ने राम-कथा को आदि से अंत तक पार्वती

को सुना दिया। जो कथा शंकर ने पार्वती को सुनायी है, उसे ही याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को सुनाया है।

वैदिक काल से श्रोत्रिय ब्राह्मण वेदमंत्रों के पाठ कई प्रकार से करते थे, जिन्हें संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि नामों से पुकारा जाता था। वेदपाठी ब्राह्मण सस्वर वेदपाठ कर सकते थे। जो उन मंत्रों के अर्थ नहीं जानते थे, वे वेदपाठी छन्दोविद् कहाते थे। वेदार्थज्ञाता ब्राह्मणों को वेदविद् कहा जाता था। जो परमार्थतत्त्वज्ञाता होते थे, उन्हें ब्रह्मविद् पुकारा जाता है। श्रीरामचन्द्र जी के स्वरूप को तथा उनकी भक्ति को समझने के विषय में शंकर जी को वस्तुतः ब्रह्मविद् कहना चाहिए। भक्तितत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे शंकर जी तथा काकभुशुण्डि जी मूर्धन्य ब्रह्मविद् हैं।

शंकर जी पार्वती को राम-सीता की कथा सुनाते है। इससे सिद्ध है कि सीता जी की चरित-घटनाएँ पहले घट चुकी है, लेकिन जब उसी 'रामचरित-मानस' के बालकाण्ड मे जनकवाटिका में सीता जी पार्वती के समक्ष अपने मनोवांछित पति के लिए प्रार्थना करती है, तब पार्वती जी सीता को आशीर्वाद भी देती है—

"मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो।"

(मानस, बाल०, २३६/छंद)

इससे सिद्ध है कि राम-सीता का जन्म पहले कई बार हुआ है और राम ने कई बार अवतार लेकर अपनी लीलाएँ की हैं। राम सीता सहित जिस लीला को कर चुके है, उसी की कथा शंकर जी पार्वती को सुना रहे हैं, इसीलिए तुलसी कहते हैं—

"हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुविधि सब संता॥"

(मानस, बाल०, १४०/५)

एक बार नहीं, राम ने अनेक बार जन्म लेकर लीलाएँ की हैं। एक बार की लीला मे सीता जी पार्वती का पूजन भी करती हैं। राम की लीलाओं के साथ शंकर की लीलाएँ भी चलती रहती हैं। शंकर–पार्वती–विवाह भी प्रत्येक राम-लीला के साथ हुआ है। 'मानस' मे तभी तो शंकर-पार्वती-विवाह मे शंकर गणेश जी की पूजा करते हैं।

जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश से ऊपर महाविष्णु हैं और वह महाविष्णु ही राम हैं, उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश से ऊपर महाशिव है और वह महाशिव तुलसी-मानस के शिव हैं; इसीलिए तुलसीदास जी द्वारा मानस के

उत्तरकाण्ड के रुद्राष्टक मे शंकर को ओंकारमूल और परेश भी कहा गया है—"निराकारमोंकारमूलं तुरीयं" × × × "प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं"

(मानस, उत्तर०, १०८/छंद)

शिवशंकर पंचानन नाम से भी पुकारे जाते हैं। शिवजी के ५ आनन ये हैं—(१) सृष्टिकर्ता (२) पालनकर्ता (३) संहारकर्त्ता (४) मुक्तिप्रदाता (५) आत्मा का परमधाम।

'मानस' के श्री शंकर श्रीराम के लिए पूज्य हैं, आराध्य हैं। 'मानस' के श्रीराम श्री शंकर के लिए पूज्य और आराध्य है। शंकर की भक्ति के आलम्बन दशरथ-अजिर बिहारी शिशु राम ही नहीं, राज्य-सिंहासनासीन श्रीराम भी शंकर जी के लिए पूजनीय तथा आराधनीय हैं। शिव उस रस के वास्तविक भोक्ता हैं। योगी, ध्यानी, ज्ञानी शंकर श्रीराम जी के उसी प्रकार भक्त हैं, जिस प्रकार कि काकभुशुण्डि जी। शंकर और काकभुशुण्डि—दोनो ही राम-जन्म के समय कौशल्या की गोद को सुशोभित करनेवाले शिशुरूप श्रीराम का दर्शन करने के लिए मनुजरूप धारण करते हैं, अयोध्या जाते हैं और वात्सल्य भाव की भक्ति का रस प्राप्त करते है। इस रसानुभूति के आनंद को शंकर जी ने पार्वती जी को भी बताया है—

"औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ॥
परमानन्द प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥"

(मानस, बाल०, १९६/३-५)

जिस प्रकार श्रीराम के जन्म के समय शंकर अयोध्या मे पहुँचते हैं, उसी प्रकार श्रीराम के राज्याभिषेक का आनन्द लेने के लिए भी शंकर जी अयोध्या पहुँचते हैं।

श्रीराम और सीता जी राज्यसिंहासन पर विराजमान हैं। सिंहासन के पृष्ठभाग में भरत जी छत्र, लक्ष्मण जी चमर, शत्रुघ्न जी पंखा, विभीषण धनुष, सुग्रीव शक्ति, अंगद तलवार और हनुमान् गदा लेकर खड़े है। सरस्वती, शेष और वेद स्तुति कर रहे है। श्री गुरुदेव वशिष्ठआदि विप्रवर तिलक कर रहे हैं। माताएँ आरती उतार रही है। आकाश मे देवता नगाड़े बजा रहे हैं। गंधर्व-किन्नर नाच-गा रहे हैं। भगवान् श्रीराम के शरीर पर पीताम्बर सुशोभित है। शिर पर मुकुट और भुजाओं पर केयूर और अंगद चमक रहे हैं। शंकर और काकभुशुण्डि जी ने भी उस दृश्य का आनन्द लिया है।

शेष, सरस्वती और वेद प्रभु की उस अलौकिक आभा और दिव्य शोभा का वर्णन तो कर रहे हैं, लेकिन वास्तविक रस श्री शंकर जी ही प्राप्त कर रहे है, क्योंकि उस अलौकिक महाछवि के दर्शन वे मौन बनेहुए कर रहे हैं। यदि दर्शन के आनंद-लाभ के समय मुख से शब्द निकल रहे हों, तो निश्चित रूप से द्रष्टा का आनंद समाप्त हो जाता है। वाणी की नितान्त मूकदशा में ही वास्तविक रस प्राप्त किया जा सकता है। इस तथ्य और सत्य को काक-भुशुण्डि जी गरुड जी से कह रहे हैं—

"यह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस।
बरनहिं सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस॥"
(मानस, उत्तर०, १२ (क))

शंकर वास्तव में कल्याणकारी हैं। नारद जी का भी कल्याण चाहते हैं। इसीलिए कामजयी नारद के अहंकार को दबाने की सलाह वे नारद जी को देते हैं। शंकर अच्छी तरह जानते हैं कि प्रभु गर्वप्रहारी है। जो गर्व करता है, प्रभु उसके गर्व को चूर्ण कर देते हैं।

कामविजय की दुंदुभि का घोष सुनाने के लिए देवर्षि नारद शंकर जी के यहाँ पहुँचते है। शंकर प्रसन्न तो होते हैं, किन्तु नारद को विनयपूर्वक नेक सलाह भी देते है—

"बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥"
(मानस, बाल०, १२७/७,८)

काम पर विजय तो नारद ने भी पा ली थी; किन्तु कामारि शंकर ही कह लाते है। कारण यह है कि काम और राम में विचित्र विरोधात्मक सम्बन्ध है। शंकर काम पर क्रोध करते हैं; उसे भस्मावशेष बना देते हैं; क्योंकि शंकर राम से स्नेह करते हैं। नारद काम पर क्रोध नहीं करते, उसके आगमन पर साम्यावस्था मे रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह राम पर क्रोध करते हैं और पत्नी-विरह का श्रीराम को शाप देते हैं। शंकर का व्यक्तित्व यह सिद्ध करता है कि काम पर क्रोध करनेवाला ही राम का भक्त बन सकता है। काम के प्रति नारद डिफेन्सिव है, शंकर ऑफेन्सिव।

देवर्षि नारद ने काम पर क्रोध किया नहीं और अपने को कामजयी समझकर अहंकार में और भर गये। अहंकार मनुष्य को आपे से बाहर कर देता है। जो आपे से बाहर हुआ, वह विवेक से तथा अपने लक्ष्य से दूर हुआ।

जो विवेक से दूर हुआ, वह सुख से दूर हुआ। हम दुखी क्यों हैं? इसलिए कि विवेकहीन होकर उसके पीछे दौड़ते हैं, जो क्षणिक है परिवर्तनशील है और मिटनेवाला है। जो चिन्मय है, नित्य है; उससे विमुख हो जाते हैं। नारद, अहंकारी नारद जितने समय तक नित्य चिन्मय सत्ता से विमुख होकर उस परिवर्तनशील तथा नाशवती नृपशीलनिधि-पुत्री के पीछे दौड़ते रहे, उतने समय तक दुखी रहे। मनुष्य तन की अपेक्षा मन से अधिक दौड़ता-भागता रहता है। नारद क्षणिक के पीछे मन से अधिक दौड़ते फिरे।

तुलसीकृत '**मानस**' में जिस कुमारी को राजा शीलनिधि की पुत्री बताया गया है, उसे '**अद्भुतरामायण**' में अम्बरीष की पुत्री **श्रीमती** लिखा गया है। **श्रीमती** के स्वयंवर में **नारद** और **पर्वत** साथ-साथ पहुँचे हैं। 'अद्भुत् रामायण' में इसका स्पष्टत: उल्लेख है।

शंकर जी के लिए श्रीराम प्रणम्य हैं, पूज्य हैं। श्री सीता जी भी उसी प्रकार प्रणम्य और पूज्य हैं। पंचवटी में विरही राम को सीता के वियोग में विलाप करते सती ने देखा; शंकर भी साथ थे। शंकर जी ने तुरन्त श्रीराम जी के चरणों में प्रणाम किया। सती जी ने यह सब आश्चर्यपूर्वक देखा। सती जी ने मन में विचारा कि जगद्वन्द्य जगदीश शंकर ने नृपसुत राम को सच्चिदानन्द परधाम कहकर प्रणाम किया। क्यों? महान् आश्चर्य—

"तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द परधामा॥"

(मानस, बाल०, ५०/७)

त्रिपथगी शिवशंकर कामारि हैं। दीन-हीन-विकलांगों के सहायक हैं। जिन अंगहीनों तथा विकलांगों का कोई सहारा नहीं, शिवशंकर उन्हें अपनी शरण में लेते हैं, अपने गण बनाकर रखते हैं। ऐसा दीनदयालु कौन होगा? तुलसी ने इसीलिए महेश जी के लिए **दयालु**, **प्रियशंकर** और **सर्वनाथ** शब्दों का प्रयोग किया है।

तारकासुर के नाश के लिए देवता कामदेव से प्रार्थना करते हैं कि शिव जी को प्रभावित करके वह हमारा कल्याण करे, ताकि पार्वती के गर्भ का पुत्र दुष्ट तारकासुर का बध करे। कामदेव जैसे ही वसन्त के वृक्ष-पल्लवों में से बाण चलाता है, तुरन्त शिव के तृतीय नेत्र की भीषण ज्वाला से विश्व जलने लगता है। सभी देवता शंकर से प्रार्थना करते हैं कि "प्रभो! क्रोध शान्त कीजिए, शान्त कीजिए" देवता पूरा वाक्य कह भी नहीं पाये कि कामदेव भस्म हो गया

"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिर. खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदन चकार ।।"

(कालिदास, कुमार० ३/७२)

"तब सिवँ तीसर नयन उघारा । चितवत कामु भयउ जरि छारा ।।"

(मानस, बाल० ८७/६)

शकर काम को रति की प्रार्थना पर बाद मे जीवित कर देते है, किन्तु अशरीर-रूप मे काम देहासक्त ही है । कामासक्ता शूर्पणखा राम के शरीर पर मुग्ध थी । उस शरीर पर, जो उसकी दृष्टि मे अविवाहित है । अशरीरकाम अर्थात् देहासक्तिरहित काम राम से मिलाता है । वही काम धर्माविरुद्ध है । अशरीरीकाम = भक्ति ।

भवानीपति भावगम्य हैं; किन्तु ज्ञानगोतीत भी हैं । शंकर जी विचित्र और शकर जी के परिवारी विचित्र; उनके घर का वातावरण विचित्र । शकर सब को सनिकेत बनाते हैं, लेकिन स्वय अनिकेत है । परम वैचित्र्य यह कि स्वय अनिकेत और दिगम्बर, फिर भी सदा प्रसन्नानन हैं ।

शंकर का व्यक्तित्व विचित्र है । वे कर्मियो के लिए अहंकार, भक्तो के लिए विश्वास और ज्ञानियों के लिए ज्ञान है । रावण के गुरु इसलिए हैं कि रावण व्यष्टि का अहकार है, तो शिव समष्टि के अहंकार है । शिव भारी हैं, अर्थात् गुरु । शिव रावण के लिए अहकार रूप और श्रीराम के लिए विश्वास रूप है । रावण का व्यष्टिगत अहकार जब समष्टिगत अहंकार को घर बुला-कर पाँव पुजवाना प्रारम्भ कर देता है, तब अति के कारण रावण मारा जाता है । राम अकर्तृ स्वरूप निरहंकारी है । निरहंकार ही अहकार को परास्त कर सकता है । निरहंकारी राम ने अहंकारी परशुराम को पराजित किया । विनयशील राम धनुष के बाण को हृदय की ओर खींचते है, क्रोधी परशुराम फरसे को सिर के ऊपर ले जाकर चलाते हैं ।

शंकर सपरिवार कैलाश के श्वेत शिखर पर विराजमान हैं । शरद् की पूर्णिमा है । दुग्धस्नात चंद्रिका छिटक रही है । गगनविहारी चद्रमा शकर के मस्तक के चन्द्रमा के भाग्य की प्रशसा कर रहा है । व्योम के पूर्णचन्द्र की धवल किरणें जटिल-शिव-शीर्ष पर मालती-माला की भाँति शोभित गगा की धारा से चंचल बन गयी है । शकर, पार्वती और पूर्ण चन्द्र की उस ज्योति से गिरीश कैलाश और भी अधिक रजतमयी धवलिमा धारण किये हुए हैं ।

श्री शंकर जी के पास में नादिया, श्री पार्वती जी के पास सिंह, श्री कार्तिकेय के पास मोर और श्री गणेश के पास मूषक भी बैठाहुआ है। शंकर की ग्रीवा मे नाग फन उठाकर लहरा रहे है। शंकर-परिवार के सभी वाहन एक दूसरे के पास है, किन्तु सभी निर्द्वन्द्व है, निर्भय है। यह विचित्रता शंकर जी के ही आश्रम-स्थल पर मिल सकती है। कैलाश शंकर का आवास-स्थल ही नही, समाधि-स्थल भी है। महायोगीश्वर शंकर प्रिया पार्वती को सदा साथ रखते हैं, किन्तु कामारि है। अर्धनारीश्वर है, किन्तु चिताभस्मलेपी है। नारीसंग मे भी शंकर नितान्त निस्संगभाव है। पार्वती लास्य करती है, तो शंकर ताण्डव करते है। गौरीशंकर शृङ्गारशान्त के पवित्र समन्वय है।

महायोगीश्वर शंकर की समाधि छोटी-मोटी समाधि नही। वह सतासी हजार वर्षो तक समाधिस्थ रहते हैं। महेश तुरीयावस्था के अधिपति ही नही, अधिपतीश्वर है। निर्विकल्पसमाधि के साधकेश्वर है। जाग्रत् अवस्था मे तुरीयावस्था की स्थिति का नाम समाधि है।

यह दयालु, प्रियशंकर सर्वनाथ परेश श्री महेश की समाधि का ही प्रभाव था कि औरों को अमृत देकर और स्वयं विष पीकर शंकर शिवशंकर बने। नागो, सर्पो, बिच्छुओ, बर्रों, ततइयो आदि को ऐसे शिवशंकर को छोड़कर कौन अपना सकता है? विषपायी नीलकंठ शिव ने जब विष-पान किया था, तब उस विष की कुछ बूंदे पृथ्वी पर गिर गयी थी, उनसे ही नाग, सर्प, बिच्छू, बर्र, ततइया आदि का जन्म हुआ। नीलकंठ शिव ने विष को तथा विषजन्माओ को अपने गले पर धारण किया है।

शंकर ही हैं, जो विष पी सकते है। सर्पों से अपनी माला, कुंडल और जटा-मौर बना सकते हैं। नग्न रह सकते हैं। नादिये पर सवारी कर सकते हैं। इतना ही नही मुंडमाला पहनकर विभूति रमाकर श्मशानवासी हो सकते है। क्यों? क्योकि समर्थ हैं। नारदजी की वाणी मे तुलसी कहते हैं—

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥"

(मानस, बाल०, ६६/८)

हिमाचल की पुत्री पार्वती तपस्या की परीक्षा मे सफल हो गयी हैं। शंकर जी देवताओं की प्रार्थना पर पार्वती को ब्याहने के लिए चलनेवाले है। ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवतागण बरात मे जाने के लिए तैयारी कर रहे हैं।

शंकर भी सजाये जाने लगे। उनके गण उनका शृङ्गार करने लगे—शंकर जी के सिर पर उनकी ही जटाओं का मुकुट बनाया गया और उस पर साँपों का मौर सजाया गया। शिव जी ने साँपों के ही कंकण और कुण्डल पहने। शरीर पर विभूति रमायी और वस्त्र की जगह बाघम्बर लपेट लिया। छाती पर नर-मुण्डों की माला है; एक हाथ में डमरू और दूसरे में त्रिशूल सुशोभित है। अशुभ वेश में भी शंकर सदा शुभकर हैं, शुभ हैं।

तब ब्रह्मा और विष्णु ने अपनी मंडली अलग कर ली और कहने लगे कि हम शंकर जी की बरात के साथ चलकर अपनी हँसी नहीं कराएँगे, राजा हिमाचल के यहां को हम अलग चलेंगे। देवांगनाएँ स्वर्ग से शिव और शिव-गणों को देखकर मुसकरा रही हैं और व्यंग्यभरा मजाक कर रही हैं। श्री विष्णु कहते हैं—

"बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई।।
बिष्नु बचन सुनि सुर मुसकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने।।
मन ही मन महेसु मुसुकाहीं। हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं।।"

(मानस बाल०, ९३/१-३)

शिव जी को सब कुछ स्वीकार है; किन्तु वे अपने गणों, अपने शरणागतों और अपने विकलांग जनों को नहीं त्याग सकते। जब वे जीवन में सदा साथ हैं, तब बरात में भी साथ रहेंगे। दयालु, कृपालु और सर्वनाथ की यही तो रीति-नीति है; इसीलिए तो शंकर प्रियशंकर है, शुभकर है।

विवाह में मैना स्वर्ण-थाल सजाकर शंकर जी का परिछन करने लगी। साँपों की फुत्कार से परिछन का दीपक बुझ गया। मैना के हाथ से स्वर्ण-थाल गिर गया। शंकर विश्वास है, सत्य है। जहाँ सत्य है, वहाँ स्वर्ण नहीं टिक सकता। सत्य को तो स्वर्ण ढक लेता है। ईशावास्य उपनिषद् का ऋषि कहता है "हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" (ईशावास्य, मंत्र, १५)। उन सत्यरूप शंकर को तो स्वर्ण-थाल गिराना ही था। उस थाल का दीपक बुझाना ही था। स्वर्ण से अन्दर का दीपक बुझना ही है।

शंकरजी की इस महत्ता को, इस ऊँचाई को भगवान् श्रीराम अच्छी तरह जानते हैं। इसी ऊँचाई के कारण श्रीराम के लिए शंकर जी पूज्य हैं। समुद्र पार जाकर श्रीराम समुद्र-तट पर ही शिवलिंग स्थापित करके उनकी पूजा करते हैं और मुक्तकंठ से उद्घोष करते हैं—

"लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥
सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥"

(मानस, लंका०, २/६-८)

महात्मा तुलसी जिन राम को पूजते है, वे राम शंकर को पूजते हैं, इसलिए शंकर जी के लिए तुलसी लिखते हैं—

"नतोऽहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं"

(मानस उत्तर०, १०८/छंद)

○ ○

१९. भव की भवानी :
सती और पार्वती

अमरकोश मे शिव जी के ४८ नामो मे एक नाम 'भव' भी है। 'भव' (धा० भू+अप्) का अर्थ है, जो है। शकर है, स्वयभू है। वे किसी के द्वारा उत्पन्न नही किये गये; किसी के द्वारा बनाये नही गये ; इसीलिए महेश या महादेव भी कहलाते है।

'**रामचरितमानस**' के आधार पर **महेश** रामभक्ति के प्रथम वक्ता है और रामकथा के प्रथम वक्ता अगस्त्य मुनि हैं।

कथाएँ कहने की परम्परा बहुत प्राचीन है। इस परम्परा की प्रमुख धाराएँ दो है —(१) शेषनागीय धारा। (२) नारायणीय धारा। शेषनागीय धारा के प्रमुख कथावक्ता धरणीधर शेषनाग है और नारायणीय धारा के प्रथम वक्ता भगवान् नारायण हैं।

शेषनागीय धारा के अन्तर्गत वक्ता-श्रोता की परम्परा के अनुसार नाम इस प्रकार है—शेषनाग, सनत्कुमार, साख्यायन, वात्स्यायन, पुलस्त्य, पराशर, मैत्रेय और विदुर। विदुर को मैत्रेय से कथा और कथावाचन का रहस्य प्राप्त हुआ था।

नारायणीय धारा के अन्तर्गत वक्ता-श्रोता-क्रम से नाम इस प्रकार हैं—भगवान् नारायण, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुकदेव, सूत, शौनकादि ऋषि, और परीक्षित्। राजा परीक्षित् ने कथा श्री शुकदेव से सुनी थी। शुकदेव शौनकादि के वर्ग मे आते है।

'**रामचरितमानस**' मे प्रसिद्ध कथावक्ता दो हैं—एक अगस्त्य और दूसरे लोमश। अगस्त्य मुनि से शकर ने कथा सुनी और उसे फिर पार्वती को को सुनाया। शिव से, से प्राप्त लोमश से काकभुशुण्डि ने कथा सुनी। काकभुशुण्डि से याज्ञवल्क्य ने सुनी और उन्होने भरद्वाज को सुनायी।

शकर भव हैं। भव की भवानी दो हैं—सती और पार्वती। प्रथम जन्म की सती जी दूसरे जन्म मे पार्वती बनीं। सती दक्षतनया हैं पार्वती हिमाचल-पुत्री हैं

सती अधीश्वर दक्ष प्रजापति की कन्या है। सती का विवाह शंकर के साथ हुआ है। सती के विवाह के उपरान्त दक्ष फिर प्रजापति भी बन गये थे। शंकर एक नाते तो प्रजापति दक्ष के जामाता है; लेकिन वह देवों के अधिपति महादेव भी है। प्रजापति दक्ष की सभा मे जब शंकर जी पहुँचे, तब सिंहासनारूढ प्रजापति दक्ष यह आशा रखते थे कि मैं राजा हूँ और शंकर का श्वसुर हूँ; अतः शंकर को मुझे प्रणाम करना चाहिए। इस अकांक्षा की पूर्ति न होने के कारण प्रजापति दक्ष ने शंकर को अपमानित करने की योजना बना ली। वह योजना एक यज्ञ की थी। प्रजापति दक्ष ने उस यज्ञ में सब देवताओं को आमंत्रित किया था; किन्तु महादेव शंकर को आमंत्रण न भेजा था। प्रजापति दक्ष के प्रभुता-मद ने ही दक्ष से ऐसा व्यवहार कराया था। गोस्वामी तुलसीदास, 'मानस' मे टिप्पणी भी करते है—

"नहि कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।।"

(मानस, बाल०, ६०/८)

लोक मे प्रसिद्ध है कि खानदानी रईस नये रईस से अच्छा होता है। 'मानस' के पाठक जानते है कि दक्ष प्रजापति नये रईस बने थे और हिमाचल खानदानी रईस थे। सती ऐसे प्रजापति की कन्या थी, जो बाद मे राजा बना था और पार्वती ऐसे राजा की पुत्री थी, जो राज-पुत्र से राजा बना था। पिता की वृत्तियो का प्रभाव कुछ-न-कुछ सन्तान पर पडता ही है। दक्ष प्रजापति अहंकारी थे। प्रजापति होने का मद भी उन्हें था। दक्ष प्रजापति की कन्या सती मे भी वैसी ही वृत्तियाँ कुछ-न-कुछ संस्कारवश आयी होगी।

सती अनास्था और सन्देह की प्रतीक हैं। अखिलब्रह्माण्डनायक-परात्पर ब्रह्म सीता-विरही श्रीराघवेन्द्र को पंचवटी-कानन मे शिवजी प्रणाम करते हैं और प्रणाम करते समय उन्हे 'सच्चिदानंद परधाम' भी कहते हैं, लेकिन सती जी शंकर की उस आस्था पर विश्वास नही करती। वे श्रीराम जी को मात्र नृपसुत समझती हैं। शिव जी ने भक्तों के कल्याण के लिए भगवान् के नरा-अवतार की बात सती से बार-बार कही थी ; फिर भी सती के गले नही उतरी। अन्त मे सती जी सीता जी का रूप धारण करके नरभूप श्रीराम जी की परीक्षा लेने के लिए चल दी।

दो नेत्रोंवाली सती तीन नेत्रोंवाले शिव की बात पर भी विश्वास नही करतीं। तीन नेत्रोंवाले ही क्यों ? पन्द्रह नेत्रोंवाले शिवजी की बात पर सती

संशय करती है। परीक्षा न लेने की कहकर भी श्रीराम जी की परीक्षा लेती है। सती संशय और असत्य की मूर्ति हैं। संशयग्रस्त दुख पाता है। जीवन में भटकता रहता है। श्रीराम के निम्नांकित कथन में यही व्यंजना है—

"कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥"

(मानस, बाल०, ५३/८)

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने सीतारूपधारिणी सती जी को पहचान लिया कि यह सती जी है, शंकर जी की पत्नी अर्थात् भव की भवानी। श्रीरामचन्द्र जी ने कर जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा—"देवि! दशरथ-पुत्र राम आपको प्रणाम करता है।" फिर यह भी पूछा कि "शंकर जी कहाँ है? आप तो सदा शंकर जी के साथ रहती हैं। आज वन में अकेली क्यों घूम रही है?"

इन वाक्यों को सुनकर भवानी सती आश्चर्य में पड़ गयीं। महान् आश्चर्य तो सती जी को तब हुआ, जब उन्होंने थोड़े ही समय में वहाँ अनेक ब्रह्माओं, विष्णुओं और महेशों को श्रीराम के चरणों में प्रणाम निवेदित करतेहुए देखा। सभी देवताओं को भी वहाँ देखा। श्रीराम जी के ही साथ सीता जी और लक्ष्मण जी को भी चारों दिशाओं में देखा।

इस दृश्य को देखकर सती अपनी भूल पर तथा अपनी हठ पर बहुत लज्जित हुई। शंकर जी ने समाधि द्वारा वह सब कुछ जान लिया था कि सती ने सीता जी का रूप बनाया था। सती ने परात्पर-ब्रह्म श्रीराम जी की परीक्षा कपट-रूप से ली और शंकर जी की आराध्या माता श्रीसीता जी का भी रूप सती ने धारण किया—इससे शंकर जी बहुत क्षुब्ध हुए और उन्होंने सती जी से बोलना छोड़ दिया। सती से बोलना न पड़े; इसलिए शंकर जी ने सतासी हजार वर्षों के लिए समाधि लगा ली। काल-मान की छोटी इकाई निमेष (पलक झपने का समय) और सबसे बड़ी इकाई कल्प है। एक मन्वंतर में ७१ चतुर्युगी से कुछ अधिक का समय होता है। एक कल्प में दस हजार मन्वंतर होते हैं। तुलसी शिवजी की समाधि के विषय में कहते हैं—

"बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥"

(मानस, बाल०, ६०/२)

'रामचरितमानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ में ही लिखा गया है कि रामचरित को शंकर जी ने रचकर अपने 'मानस' (मन) में रख लिया

था। उस रामचरित को शंकर ने सती से नही कहा, समय पाकर पार्वती से कहा।

शंकर रामचरित को रचकर हृदय मे ही रखे रहे; पात्र श्रोता की तलाश मे रहे। संशयात्मा संदेहयुक्ता सती तो रामचरित की पात्र थी ही नही। जब शंकर-पार्वती-मिलन हुआ, तभी शंकर की वाणी प्रस्फुटित हुई। पार्वती-शिव-विवाह का यह सुफल भी ऋषि-मुनियो को प्राप्त हुआ कि रामचरित सुनने को मिला।

शंभु ने रामचरित रचा और बहुत समय तक मन में ही रखे रहे, बहुत काल के बाद उन्होंने उसे पार्वती को सुनाया। शंभु का वह रामचरित काकभुशुण्डि ने लोमश के माध्यम से सुना। काकभुशुण्डि से याज्ञवल्क्य ने सुना। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को सुनाया। भरद्वाज ऋषि द्वारा शिष्य-परम्परा के माध्यम से लोक मे सुनाया जाता रहा। अन्त मे वह तुलसीदास के गुरु नरहरिदास के पास आ गया। गुरु नरहरिदास से शूकरक्षेत्र में तुलसीदास ने बालकपन मे सुना। रामचरित तो मूलत. एक ही था; किन्तु वक्ता-श्रोता की भाव-भूमि के कारण उस चरित के भाव-तत्त्व मे कुछ रँगो का अन्तर पड गया, कही ज्ञान, कही भक्ति, कही कर्म और कही दैन्य।

शंकर के द्वारा सुनाये हुए रामचरित मे ज्ञान का रँग था। काकभुशुण्डि ने जो गरुड को सुनाया था, उसमे भक्ति का रँग था। याज्ञवल्क्य ने जो भरद्वाज को सुनाया था, उसमे कर्म का रँग था। तुलसीदास ने जो सन्तो को सुनाया था, उसमे दैन्य का रँग था। वैसे तुलसी के रामचरित मे अन्य रँग (ज्ञान, भक्ति और कर्म से भिन्न) भी है। तुलसी रामचरितरूपी मानसरोवर के चारो घाटों पर जाते रहे हैं। उनका अपना घाट तो दैन्य-घाट अर्थात् गऊ-घाट ही है। शंकर का अपना घाट ज्ञान-घाट अर्थात् राजघाट है। काकभुशुण्डि का अपना घाट भक्ति-घाट अर्थात् स्त्री-घाट (पनघट) है। याज्ञवल्क्य का अपना घाट कर्म-घाट अर्थात् पुरुष-घाट है।

महात्मा गोस्वामी तुलसीदास के चारो घाट माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तुलसीकृत रामचरितमानस मे ज्ञान, भक्ति, कर्म और दैन्य—चारों-का प्रतिपादन है। मनु-शतरूपा की प्रार्थना पर जो भगवान् प्रकट होते हैं, वे ज्ञान, भक्ति, कर्म और दैन्य—चारो—के ही आलम्बन है। तुलसी लिखते हैं—

"भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्व बास प्रगटे भगवाना॥"

(मानस बाल० १४६/८)

भगतबछल प्रभु = भक्ति के आलम्बन।
कृपानिधान = दैन्य के आलम्बन।
बिस्वबास = ज्ञान के आलम्बन।
भगवान प्रगटे = कर्म के आलम्बन।

रामचरित की प्रमुख आदिश्रोत्री पार्वती और अन्तिम श्रोता भरद्वाज है; फिर बहुत काल के उपरान्त तुलसीदास श्रोता बनते हैं। अतः रामचरित का प्रथम श्रेय भव को तथा भवानी पार्वती को ही दिया जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि शंकर जी ने रामचरित को रचकर अपने मन में कितने समय तक रखा? स्पष्ट है कि शंकर जी ने सतासी हजार वर्षों तक समाधि लगायी, तब तक वे उसे हृदय में रखे रहे। फिर सती ने आत्मदाह द्वारा दक्ष प्रजापति का यज्ञ खंडित किया। वही सती फिर अपने अगले जन्म में राजा हिमाचल के यहाँ पार्वती रूप में जनमी और राजा हिमाचल तथा रानी मैना ने पार्वती का विवाह शंकर के साथ किया। पार्वती का विवाह शंकर के साथ हुआ। जब पार्वती कुछ दिन शंकर के साथ रह लीं, तब रामचरित को जानने के लिए पार्वती जी ने शंकर जी से बारह प्रश्न किये। उन बारह प्रश्नों के उत्तर शंकर जी ने इस प्रकार दिये कि पूरी राम-गाथा (पूरा रामचरित) पार्वती को सुना दी।

इसी ओर संकेत करते हुए तुलसीदास लिखते है—
"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥"
(मानस, बाल०, ३५/११)

सती जी सन्देह और अनास्था की प्रतीक हैं। वह नारी स्वभावजन्य कुछ झूठ भी बोल जाती हैं। पार्वती श्रद्धा और आस्था की प्रतीक है। अन्त में पार्वती संपूर्ण रामचरित सुनकर गतसन्देह हो जाती है—

"नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। रामचरन उपजेउ नव नेहा॥"
(मानस, उत्तर०, १२९/८)

राम को तथा रामभक्ति के स्वरूप को श्रद्धावान् तथा आस्थावान् ही समझ सकता है। इसीलिए उपयुक्त श्रोता-पात्र मिलने पर ही शंकर ने रामचरित सुनाया। शिवा (पार्वती) ही रामचरित सुनने की अधिकारिणी थीं, भवानी (सती) नहीं। शंकर उस उपयुक्त पात्र की प्राप्ति के लिए ही सुसमय की प्रतीक्षा करते रहे। सुपात्र मिल गया तब पूरा रामचरित सुनाया।

रामभक्ति को शंकर ही जानते हैं: क्योंकि शंकर विश्वास है। वह रामभक्ति तभी सफल हो सकती है, जब वक्ता विश्वासरूप और श्रोता श्रद्धारूप हो। भक्ति है भी विश्वास और श्रद्धा का समन्वित स्वरूप। संदेह और अनास्था तो रामभक्ति के लिए नितान्त विरोधी तथा अनुपयुक्त है। संशयात्मा विनाश को प्राप्त होता है। संदेह और श्रद्धा कभी साथ-साथ नहीं रह सकते। संदेह के नष्ट हो जाने पर ही श्रद्धा का जन्म होता है। सती के आत्मदाह के उपरान्त ही पार्वती का जन्म हुआ।

जब पहले हम मन के दुरित (पाप) दूर कर लेंगे; तभी हमें भद्र (शुभ) प्राप्त हो सकते हैं। वैदिक ऋषि ने इसीलिए तो पहले दुरित के दूरीकरण के लिए प्रार्थना की है, फिर भद्र की प्राप्ति के लिए—

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥"

(यजु०, अ० ३०/मंत्र ३)

खाली जगह में सत्य उतरता है। हमारे अहं आदि सब दुरित दूर हुए और हम अन्दर खाली हुए, तो सत्य (भद्र) उस खाली स्थान पर उतर आएगा। भक्ति में भक्त अपने अन्दर के रिक्त स्थान को भगवान् से भरता है। भगवान् सत्य हैं: शिव और सुन्दर हैं। "सत्यं शिवं सुन्दरम्"।

शंकर हिमालय के एक सर्वोच्च शिखर कैलाश पर अर्थात् गौरीशंकर पर रहते हैं। शंकर सदा अन्तर्यात्रा करते हैं; सांसारिक जीवों की भाँति बहिर्यात्रा नहीं। अन्तर्यात्री के अन्दर हिमालय होता है और अन्तस् को आनन्द देता है। बहिर्यात्री तो संसार की वस्तुओं में ही रस समझते हैं। उन्हें मार खींचता है और वे खिंचे चले जाते हैं। शंकर जो मार के मारक हैं, राम के ध्यानी हैं। वे अन्तर्यात्रा असंख्य योजनों की करते हैं। शंकर की वह अन्तर्यात्रा 'समाधि' कहलाती है। शंकर बाहर के हिमालय को नीचे दबाकर रहते हैं। अन्दर भी वे हिमालय हैं, अडिग हिमालय। पार्वती उन्हीं शंकर की अर्धांगिनी हैं। अर्धांगिनी क्या, पूर्णांगिनी हैं। पार्वती = भवानी-शंकर। शंकर = भवानी-शंकर। भवानी और शंकर कभी दो नहीं हैं। शंकर अर्धनारीश्वर हैं, तो पार्वती अर्धनरेश्वरी हैं। जो शंकर, सो पार्वती। शंकर को प्रणाम; गौरीशंकर को प्रणाम। पार्वती को प्रणाम; गौरीशंकर को प्रणाम।

सीता जी मनोवाञ्छित पति श्रीराम के लिए अपने मन को समर्पित कर चुकी हैं। श्रीराम धनुष तोड़कर सीता को पत्नीरूप में ग्रहण कर लें इसी

आकांक्षा से सीता जी गिरिवरराजकिशोरी पार्वती जी के सिर पर माला चढ़ाती है। शंकर अर्धनारीश्वर हैं, अथवा कहिए पार्वती अर्धनरेश्वरी हैं। सीता जी यदि उनके गले में माला डालतीं, तो वह माला शंकर जी के गले में भी पड़ जाती ; इसीलिए सीता जी ने पार्वती के सिर पर ही माला चढ़ायी। सिर की माला खिसक गयी और सीता जी ने उसे पार्वती जी द्वारा प्रदत्त प्रसाद मानकर आदरपूर्वक उसे अपने सिर पर रख लिया। तुलसीदास 'मानस' में लिखते हैं—

"बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
सादर सियँ प्रसादु सिर धरेऊ। बोली गौरि हरषु हियँ भरेऊ॥"
(मानस, बाल, २३६/५, ६)

शिवजी के प्रति श्रद्धास्वरूपा पार्वती का सच्चा प्रेम है। वह प्रेम काम की धरती में नहीं जनमा; अपितु तपस्या की भूमि में अंकुरित-पल्लवित हुआ है। आवेगों का प्रतिरोध करके जिन साधनों से आत्मिक शक्ति विकसित की जाती है, उन साधनों को तपस्या कहते हैं।

पार्वती की कर्ममयी तपश्चर्या ने सिद्ध कर दिया कि कर्म भाग्य को पलट सकता है। श्रद्धा को विश्वास की प्राप्ति तपस्या द्वारा ही हो सकती है। जब श्रद्धा को विश्वास की प्राप्ति हो जाएगी, तब श्रद्धा भक्ति के स्वरूप को तथा भगवान् के स्वरूप को भी समझ लेगी। भक्ति की मंजिल पर पहुँचने के लिए यात्रा जानकारी से आरम्भ करनी पड़ती है। जानकारी, श्रद्धा, प्रीति और भक्ति—ये यात्रा के क्रमिक स्थल हैं। शंकर जी ने पार्वती को परात्पर ब्रह्म श्रीराघवेन्द्र के स्वरूप को जता दिया, फिर उनके प्रति पार्वती की श्रद्धा उत्पन्न हुई। वही श्रद्धा प्रीति बनकर भक्ति की मंजिल पर पहुँच गयी। कर्मठता रूपी तपश्चर्या से श्रद्धा अपने साथी विश्वास को पाकर इतनी सबल और समर्थ बन जाती है कि वह भाग्य की रेखाएँ भी मिटा सकती है। नारद जी ने राजा हिमाचल और रानी मैना से स्पष्टतः कह दिया था—

"जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥"
(मानस, बाल०, ७०/५)

शंकर द्वारा काम-दहन के उपरान्त पार्वती की तपश्चर्या से मानव-जीवन के लिए संदेश मिलता है कि जीवन की विषमता का समाधान कर्मशीला तपस्या में है; काम-वासनामय विलास में नहीं। नारी काम-वासना से ऊपर उठकर ही जीवन में शिव को पा सकती है ; शिव अर्थात् कल्याणराशि।

श्रद्धा अपनी तपस्या से ही विश्वास को प्राप्त कर सकती है। तारकासुर महाघोर अत्याचार और अघ का प्रतीक है। उस घोरतम अघ का नाश उसी महातेज के द्वारा हो सकता है, जिस तेज का जन्म श्रद्धा-विश्वास के सुयोग से होता है। कार्तिकेय उसी महातेज के प्रतीक है, जिनका जन्म श्रद्धारूपा पार्वती और विश्वासरूप शंकर के सुयोग से हुआ है।

'पाप' का रंग काला माना गया है और 'यश' का सफेद। श्वेतिमा स्वच्छता की ही नहीं, पवित्रता की भी प्रतीक है। पार्वती पूर्णतः स्वच्छ और पवित्र है। उनका रंग गौर है। पार्वती ही नहीं, सारा परिवार ही गौरवर्ण है। आवास-स्थल भी गौरवर्ण है। शिव श्वेत, कार्तिकेय श्वेत, गणेश श्वेत यहाँ तक कि नादिया श्वेत, सिंह श्वेत और आवास-स्थल गिरीश कैलाश श्वेत। कितनी दिगन्त-विस्तृत श्वेतिमामय पवित्रता है? पार्वती का अंतस्-बाह्य और परिवेश सब गौर है, इसीलिए तो वे गौरी नाम से प्रसिद्ध है।

काव्य के प्रमुख तत्त्व तीन है—(१) वाक् अर्थात् भाषा (२) अर्थ (३) भाव। भाषा के माध्यम से अर्थ को जाना जा सकता है। वाक् और अर्थ पूर्णत संपृक्त हैं।—"वागर्थाविव संपृक्तौ" (रघुवंश, १/१)। पार्वती और शंकर वाक् और अर्थ की तरह ही संपृक्त है। अर्थ को भाषा से पृथक् नहीं किया जा सकता। उसी तरह शंकर पार्वती से पृथक् नहीं हैं, अर्धनारीश्वर हैं।

जिस प्रकार वाक् से अर्थ पर पहुँचा जाता है, उसी प्रकार अर्थ से भाव पर पहुँचा जाता है। वाक्-यात्रा की अन्तिम मंजिल भाव है। पार्वती प्रश्नकर्त्री के रूप में 'वाक्' है और शंकर उत्तरदाता वक्ता के रूप में 'अर्थ' हैं। परात्पर ब्रह्म श्रीराघवेन्द्र भावरूप हैं, पार्वती और शंकर अर्थात् वागर्थ दोनों ही परम भाव रूप श्रीराघवेन्द्र की शरण में पहुँचते है।

जिस तरह अर्थ का आधार वाक् है, उसी तरह शिव का आधार शक्तिरूपा शिवा हैं।

शिव के तीन नेत्र है—(१) ज्ञान नेत्र (२) वैराग्य नेत्र (३) योग नेत्र। पार्वती के दो नेत्र है—(१) ज्ञान नेत्र (२) वैराग्य नेत्र।

शंकर ही समाधि लगाते है, क्योंकि योगनेत्री हैं। पार्वती समाधि नहीं लगाती। वे योगनेत्रा नहीं हैं। शंकर ने पार्वती को भी ज्ञानवती बनाया है।

तंत्र का एक ग्रंथ है, 'विज्ञान भैरव', जिसमे शंकर ने पार्वती को अनेक प्रयोग बताये हैं। हर प्रयोग में बीच के गैप पर ठहरना बताया गया है। शंकर

पार्वती से कहते हैं कि श्वास भीतर जाती है और बाहर आती है। जब श्वास न भीतर जा रही हो, न बाहर आ रही हो, वहाँ तुम ठहर जाना। तुम वहाँ ठहर जाना, जहाँ न प्रेम हो, न घृणा, जहाँ न राग हो, न विराग। वही मध्यवर्ती स्थिति पर ज्ञान है। योग की भूमि में प्राप्य ज्ञान की यही स्थिति है।

शंकर योगनेत्री, वैराग्यनेत्री और ज्ञाननेत्री हैं। जहाँ वैराग्य और ज्ञान है, वहीं सत्य निवास करता है। सत्य जहाँ होगा, वहाँ स्वर्ण न होगा। शंकर का दिगम्बरत्व स्वर्ण-त्याग का सूचक है। शंकर ही नहीं, शंकर के कण्ठाभरण सर्प भी स्वर्ण से घृणा करते हैं। स्वर्ण सत्य के दर्शन नहीं करने देता। तभी तो पार्वती की माता मैना के द्वारा लाये हुए परिछन के स्वर्णथाल में प्रज्वलित दीपक को शंकर जी के ग्रीवाहारसर्प अपनी फुसकार से बुझा देते हैं और भयभीत मैना के हाथ से स्वर्ण-थाल गिर जाता है। ठीक ही है, सत्य को स्वर्ण में धक्का मारना ही चाहिए। स्वर्ण का ढक्कन सत्य को ढक लेता है —

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्"
(ईशा० उपनिषद्)

विचार असंख्य हैं और आते जाते रहते हैं। किसी एक विचार की दृढ़ता 'संकल्प' कहलाती है। 'संकल्प' वह दृढ़ विचार है जो कर्म का रूप धारण करता है श्रद्धा यदि संकल्प के साथ कर्मक्षेत्र में उतरेगी, तो अवश्य सफल होगी। पार्वती ने संकल्प किया था कि विवाह करूँगी, तो शंभु के साथ; अन्यथा क्वारी ही रहूँगी—

"जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥"
(मानस, बाल०, ८१/५)

हिमाचलपुत्री पार्वती में शिव के प्रति अपार श्रद्धामयी लगन है। यह लगन ही भक्ति है। यह भक्ति भावी को मेट देती है। भक्ति में प्रारब्ध को बदल देने की शक्ति है। नारद जी ने हिमाचल तथा मैना से ठीक ही कहा था—

"जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥"
(मानस बाल०, ७०/५)

पार्वती अपने संकल्प को साकार करने के लिए इतनी घोर तपस्या करती है कि फूल-फल त्याग देती है; फिर पत्तों पर ही रहती हैं। अन्त में पत्ते भी

छोड देती हैं और 'अपर्णा' कहलाती हैं। माता मैना इस महती तपस्या के लिए मना करती है। कालिदास इसी आधार पर 'उमा' नाम को सार्थक करते है-- (उमा=ओ पुत्री ! ऐसा मत कर।) उ=ओ। मा=नही, मत।

जब विचार सकल्प के साथ कर्मक्षेत्र मे उतरता है, तब अभीष्ट की प्राप्ति होती है। हिन्दू-संस्कृति मे इसीलिए 'संकल्प' का विशेष महत्त्व है। हमारे सास्कृतिक या धार्मिक कृत्यो के अवसरो पर सकल्प अवश्य कराया जाता है। सकल्प मन के विकल्प को नष्ट कर देता है। महात्मा तुलसी का संकेत है कि श्रद्धा के सकल्पवान् चरण ही विश्वास की मजिल तक पहुँच सकते है। जिस दिन सकल्पवती श्रद्धा को विश्वास की प्राप्ति हो जाएगी, उसी दिन भगवद्भक्ति की, तथा भगवान् के स्वरूप की भी अवगति हो जाएगी। भक्ति मे भक्त सदा सक्रिय रहता है। भक्त उसी दिन निष्क्रिय होगा, जिस दिन या तो समाधि लग जाए या आत्मज्ञान प्राप्त हो जाए ; अन्यथा भक्त भगवान् की सेवा मे सदा-सर्वदा सक्रिय ही रहता है, निष्क्रिय कभी नही।

पार्वती के बारह प्रश्नो के जो उत्तर शिव जी के द्वारा क्रमशः दिये गये हैं, रामचरित के उन आख्यानो मे तुलसी का यही सकेतात्मक सदेश है।

जुग कहता है कि प्रत्येक पुरुष मे एक स्त्री है और प्रत्येक स्त्री मे एक पुरुष है। पुरुष मे नारी-तत्त्व कम है ; इसलिए वह नारी पर आकृष्ट होता है। स्त्री में पुरुष तत्त्व कम है, इसलिए वह पुरुष पर आकृष्ट होती है।

संसार की नारियो मे नारी-तत्त्व ६० प्रतिशत और पुरुषत्व ४० प्रतिशत है। पुरुषो मे पुरुष-तत्त्व ६० प्रतिशत और नारीतत्त्व ४० प्रतिशत है। साराश यह है कि संसार की नारियाँ न पूरी नारी हैं, और न पुरुष पूर्ण पुरुष। दोनो अपूर्ण है। पूर्ण तो एक अर्धनारीश्वर हैं। अर्थात् शकर पूर्ण पुरुष, पार्वती पूर्ण नारी। अत अर्धनारीश्वर एक पूर्ण व्यक्तित्व है।

तुलसीकृत **रामचरितमानस** मे शंकर एक ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिनमे महादेवत्व और सन्तत्व का समिश्रण है। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के परम भक्त के रूप मे तथा रामचरित के रचयिता एव वक्ता के रूप मे शंकर जी ज्ञान के शिखर पर"आसन जमाकर बैठनेवाले सन्त शिरोमणि है। पार्वती उनकी सहचरी हैं ; सती-साध्वी शिरोमणि है। अर्धनारीश्वर शंकर पूर्ण भक्ति की साकार मूर्ति है। वह मूर्ति है भवानी-शकर की; अर्थात् श्रद्धा-विश्वास की। **भक्ति श्रद्धा+विश्वास।**

मानव की कोटियों मे तीन कोटियाँ ही प्रमुख हैं—(१) दुर्जन-कोटि (२) सज्जन-कोटि (३) सन्त-कोटि।

दुर्जन=बुराई अधिक, भलाई कम।

सज्जन=भलाई अधिक, बुराई कम।

सन्त=भलाई-बुराई का सतुलन अर्थात् शुभ और अशुभ समान (धन और ऋण समान)। धन और ऋण समान अर्थात् शून्य। इन तीनों कोटियो के ऊपर एक अद्‌भुत कोटि और है, सन्तशिरोमणि-कोटि।

शिवशंकर के लिए अमृत और विष समान है। शंभु शुभ-अशुभ से परे है। शिवशंभु मे महान् मगल और महान् विध्वस-दोनो समान है। मस्तक पर सुधाधर चन्द्रमा है, तो कण्ठ मे गरल भी है। सिर पर गंगा है, तो गले मे मुण्डमाला भी है। चन्द्रमा और गगा परकल्याणी अमरत्व की सूचना है और मुण्डमाला विश्व की नश्वरता की सूचना।

शुभाशुभ से परे अर्थात् शून्यता से भी जो उच्च व्यक्तित्व है, वह है सन्त शिरोमणि शंकर का।

विज्ञान कहता है कि जब धन-ऋण समान होते हैं, तब व्यक्तित्व तीसरा बन जाता है। शंकर अर्धनारीश्वर हैं अर्थात् तृतीय व्यक्तित्व हैं। नर-नारी से परे हैं—न नर, न नारी, एक विचित्र पृथक् अस्तित्व।

पार्वती ऐसे ही विचित्र व्यक्तित्व की जीवन-सहचरी अर्थात् अर्धांगिनी है। शिव की भाँति शिवा (पार्वती) भी विचित्र व्यक्तित्व रखती है। अर्धनारीश्वर भवानीशंकर श्रद्धा भी है, विश्वास भी है। दोनों का समन्वित रूप भक्ति है। इतना ही नही वह रूप भक्ति भी है, शक्ति भी है।

जो भवानी, वही शंकर। जहाँ श्रद्धा, वहाँ विश्वास। जो शंकर, वही भवानी। जहाँ विश्वास, वहाँ श्रद्धा।

यथार्थ को जानने का नाम 'ज्ञान' और ज्ञान में दृढ आस्था का नाम **'विश्वास'** है।

भवानी श्रद्धा और मैना क्रिया हैं। श्रद्धा से ही क्रिया मे गति आती है। पार्वती के समझाने पर ही मैना मे विवाह के समय सक्रियता आती है। पहले तो माता मैना गतिहीन थी। गीता मे कहा है कि—

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" [गीता, ४/३९]।

ज्ञान और क्रिया से श्रद्धा उच्च है, इसीलिए विवाह मडपतले हिमाचल और मैना पार्वती के पाँव पूजते हैं

सती पतिव्रता तो है, किंतु पति की आज्ञाकारिणी नहीं। पति के वचनों में भी सती का विश्वास नहीं। पार्वती पतिव्रता हैं और पति की आज्ञाकारिणी हैं। पति के वचनों में पार्वती की पूरी आस्था और विश्वास है, इसीलिए पतिव्रता नारियों में पार्वती की रेखा प्रथम है अर्थात् पतिव्रताओं में पार्वती जी शिरोमणि हैं। पार्वती जी स्वयं पतिव्रताओं में शिरोमणि है, इसीलिए अच्छी तरह जानती है कि कौन नारी मन, वचन और कर्म से पतिव्रता है, और कौन नहीं? पतिव्रताएँ इसीलिए पार्वती का ही पूजन-अर्चन-वंदन किया करती हैं। सीता जी ने भी मनोवाञ्छित वर की प्राप्ति के लिए पार्वती का ही पूजन किया था। और पार्वती के सिर पर माला चढाई थी। पार्वती जी ने अपनी मुसकातीहुई मूर्ति के माध्यम से सीता जी को आशीर्वाद दिया था कि "सीते! तुम्हें वही साँवला वर मिलेगा, जिसे तुमने अपने मन में रमा रखा है—

"मन जाहि राचेउ मिलिहि सोबरु सहज सुंदर साँवरो।"
(मानस, बाल०, २३६/छंद)

पार्वती में जितना घनीभूत प्रणय है, उतना ही वात्सल्य। पार्वती जी के वात्सल्य का ही प्रभाव था कि कुबेर के सारे भोजन-भण्डार को खा लेने पर भी भूखे गणेश माता पार्वती की एक चम्मच खीर से ही तृप्त हो गये थे।

मानव-शरीर में मूलाधार, मणिपूरक, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा और सहस्रार नाम के प्रमुख चक्र सात है। विशिष्ट चक्र आठवाँ सुरतिकमल कहलाता है। प्रत्येक चक्र में १०० बिन्दु है। इस तरह सातों में ७०० बिन्दु है। इन बिन्दुओं में ऊर्जा समाविष्ट रहती है। मृतक की दाह-क्रिया इसलिए की जाती है कि शरीर की प्राण-ऊर्जा पूर्णत. समाप्त हो जाए और आत्मा नये जीवन की खोज में शीघ्र निकले।

शंकर श्मशान की विभूति शरीर पर रमाते हैं। शंकर विभूति रमाते है अर्थात् भवानीशंकर त्रिभूति रमाते हैं। श्मशान की राख विश्व की आत्माओं के लिए नये जीवनदान का संकेत है। श्मशान में शरीर आत्मा से बिलकुल पृथक् हो जाता है। श्मशान की विभूति कायोत्सर्ग की भी सूचना देती है। शंकर कायानुभूति से नितान्त पृथक् हैं।

महायोगी-ध्यानी कायानुभूति से पृथक् रहते हैं। बुद्ध जी मरने से ४० वर्ष पूर्व काया से अलग हो चुके थे। बुद्ध जी को लोग काया में देखते थे किन्तु बुद्ध जी कायारहित थे। वह कायोत्सर्ग ही था शंकर तो शाश्वत

कायोत्सर्गी है। भवानी अर्थात् पार्वती उन्हीं शंकर की अर्धांगिनी हैं। ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री लक्ष्मी, ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती और शक्ति की अधिष्ठात्री दुर्गा है। दुर्गा पार्वती का ही रूप है। अर्धनारीश्वर शिव मंगलकारी हैं। जीवन के मंगल है, लेकिन आसुरी वृत्तियोंवाले असुरों के नाश के लिए दुर्गा अर्थात् पार्वती को ही चण्डी बनना पड़ा। चण्डीरूप पार्वती ही विध्वंस के उपरांत मंगल स्थापित करती है। अतः शिव का शिवत्व भी पार्वती पर ही निर्भर करता है। 'शिव' से 'शिवा' में ध्वनि-ऊर्जा-तत्त्व अधिक है। 'शिव' में से इकारशक्तितत्त्व निकल जाए, तो शिव शव मात्र हैं।

कायानुभूति से पृथक् मनुष्य आत्मस्थ होता है। 'स्व' में स्थित होता है। उसकी अपनी स्थिति आत्मस्थिति है। यही शंकर का ईश्वरत्व है।

तुलसीकृत 'मानस' के शंकर ईश हैं, लेकिन राम परमेश है। गौरी ईश्वरी है, तो सीता परमेश्वरी है। भवानीशंकर एक, तो सीताराम भी एक। तुलसी पहले यदि "**भवानीशङ्करौ वन्दे**" लिखते हैं, तो बाद में "**सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥**" (मानस, बाल०, ८/२) लिखते हैं और सीतारामपद की वन्दना करते हैं।

पार्वती रामचरित सुनने के लिए उपयुक्त श्रोता हैं। जिज्ञासु तथा श्रद्धावती श्रोत्री पार्वती ने शंकर से पूरा रामचरित सुना है।

अद्भुतरामायण में राग-रागिनी और नारद जी से सम्बद्ध एक प्रसंग है। एक बार नारद कैलाश पर्वत की ओर जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने कुछ सुन्दर पुरुषों और सुन्दर नारियों को विकलाङ्गदशा में देखा। उन्हें देखकर नारद जी ने उनसे उनका परिचय जानना चाहा। उन्होंने कहा कि "हम राग-रागनियाँ हैं। नारद जी ने हमारी यह दशा कर रखी है। वे मार्ग में इधर-उधर वैसे ही गाते फिरते हैं। यदि नारद जी अपना संगीत किसी सुपात्र सुविज्ञ श्रोता को सुनाएँ, तो हमारी दशा ठीक हो सकती है।" तब शंकर जी के संकेत पर नारद जी संगीतपारंगत होकर विष्णु जी के पास गये। विष्णु ही संगीत के सुपात्र श्रोता हैं। जब विष्णु जी के समक्ष नारद ने संगीत सुनाया, तब राग-रागनियों की विकलांगता दूर हुई और वे सब स्वस्थ होकर अपने स्वरूप को प्राप्त हुए।

'अद्भुतरामायण' का यह प्रसंग अधिकारी संगीतज्ञ और पात्र श्रोता की ओर संकेत करता है। संगीतज्ञ जब पात्र श्रोताओं के समक्ष गाता है, तभी संगीत का स्वरूप सौन्दर्य को प्राप्त होता है।

शंकर-पार्वती ने नृत्य को जन्म दिया और ब्रह्मा-सरस्वती ने संगीत को जन्म दिया। एक बार की घटना है कि सरस्वती कैलाश पर्वत पर सो रही थी। उनका दाहिना हाथ उरोजो पर था। उस हस्त-मुद्रा से विधाता ने वीणा का निर्माण किया। वीणा से जब नाद का जन्म हुआ, तब मौन प्रकृति शब्दायमान हुई। वीणा पर सरस्वती गाने लगी। गायन के योग से संगीत का जन्म हुआ। गायन मे राग-रागनियाँ, गायन-शैलियाँ और तालें आदि संगीत की वंशजा हैं।

शंकर जी ने रामचरित सुपात्र श्रोता पार्वती को सुनाकर उसके स्वरूप को और भी अधिक दिव्य, भव्य और सरस बना दिया। इस दिव्यता और सरसता का श्रेय शंकर की अपेक्षा पार्वती जी को अधिक है। यदि श्रोता सुविज्ञ हो, सुपात्र हो, तो वक्ता का भी मन सुनाने को करता है।

○ ○

३।०५ ७

२०. तुलसीदास : वर्तमान प्रासंगिकता

कुछ कृतियाँ एकदेशिक नहीं, सार्वदेशिक होती हैं। एक काल की नहीं, सार्वकालिक होती हैं। उनका संदेश तत्काल के लिए नहीं, अपितु भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों के लिए होता है। ऐसी कृतियों को ही कालजयी कृतियाँ कहा जाता है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' ऐसी ही कालजयी कृति है। तुलसी ने अपने 'मानस' के माध्यम से जो संदेश दिया, वह अकबर के शासनकालीन भारत के लिए ही न था; अपितु उस संदेश की प्रासंगिकता आज भी है और वह भारत के लिए ही नहीं, संपूर्ण विश्व के लिए हैं।

तुलसी ने अपने 'मानस' के द्वारा मानव-जीवन के लिए औदात्य का सुंदर स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसके दर्शन करके भारतीय ही नहीं, विश्व के अनेक मूर्धन्य मनीषी भी कृतार्थ हुए हैं। विश्व के मूर्धन्य विद्वान् सर्व श्री ग्रिफिथ, ग्रियर्सन, मिचलेट आदि तुलसी के 'रामचरितमानस' की प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते।

साहित्य-मनीषी प्रो० ग्रिफिथ ने तो दावे के साथ कहा है—"मैं विश्व के सारे साहित्य को चुनौती देता हूँ कि वह अपने में से 'रामचरितमानस' जैसा एक भी काव्य-ग्रंथ और राम और सीता जैसे पूर्ण मानव-चरित्रों को दिखाने का साहस करे।"

(ग्रिफिथ)

सुप्रसिद्ध साहित्य-विदुषी सुश्री महादेवी वर्मा ने महाकवि तुलसीदास के विषय में लिखा है—"हमारा देश निराशा के गहन अंधकार में साधक साहित्यकारों से ही आलोकदान पाता रहा है। जब तलवारों का पानी उतर गया, शंखों का घोष विलीन हो गया, तब भी तुलसी के कमंडल का पानी नहीं सूखा और सूर के इकतारे ने अपना स्वर नहीं खोया। आज भी जो समाज हमारे सामने है, वह तुलसीदास का निर्माण है। हम पौराणिक राम को नहीं जानते, तुलसीदास के राम को जानते हैं।"

(महादेवी वर्मा)

काव्य-ग्रंथ और इतिहास-ग्रंथ में बहुत अंतर है। दिन और दिनांक को छोडकर इतिहास मे शेष सबकुछ गलत हो सकता है, लेकिन प्रबन्धात्मक काव्य-ग्रंथ मे सभी कुछ सत्य होता है, दिन और दिनांक को छोडकर। इतिहास को पढनेवाली आँख काव्य नही पढ सकती। काव्य के कथ्य को समझने के लिए पाठक को हृदय का तीसरा शिव-नेत्र खोलना पडेगा। जिसके पास वह तृतीय शिवनेत्र नही है, वह काव्य के कथ्य को, काव्य के संदेश को, काव्य की घटना को तथा काव्यकार के मुख्य मंतव्य को नही समझ सकता।

प्रबन्धकाव्य मे कोई पात्र क्या कहता है ? उसके उस कथन का क्या मंतव्य है ? किस कथन को काव्यकार का प्रमुख संदेश मानना चाहिए—इसे वही पाठक जान सकता है, जिसके पास तीसरा शिवनेत्र है और वह भी खुला हुआ।

वाल्मीकिरामायण मे वर्णित है कि रावण के जन्म के समय आकाश से रुधिर बरसा था और विभीषण के जन्म के समय देवों ने फूल बरसाये थे। तुलसी ने 'मानस' मे लिखा है कि जब अयोध्या मे राम का जन्म हुआ था, तब एक महीने का दिन हुआ था। यह भी लिखा गया है कि भरत जब राम से मिलने चित्रकूट जा रहे थे, तब उनकी यात्रा के मार्ग मे जलद छाया करते थे। श्रीराम के वन-मार्ग मे जलद नही, मेघ छाया करते थे। ये सब ऐसी बाते हैं, जिनके संकेतो को, जिनके संदेशो को तथा जिनके मंतव्यो को काव्य-मर्मी पाठक ही समझ सकता है।

आज कुछ मनुष्य ऐसे भी है, जो तुलसीकृत रामचरितमानस के विरोधी हैं और यह भी कहते है कि तुलसी ने हिन्दू-समाज को भ्रष्ट कर दिया। उनका कहना है कि तुलसीदास हिन्दू समाज के भ्रष्टा है; यद्यपि 'रामचरितमानस' मे 'भ्रष्टा' शब्द तक कही आया भी नही है। वे कहते हैं, तुलसी के 'मानस' मे साम्प्रदायिकता है। तुलसी द्वारा नारी और शूद्रों का अपमान किया गया है। भारत की कुछ पत्रिकाएँ तो विशेष पैसे देकर ऐसे लेख भी लिखवा रही है, जिनमे तुलसी को समाज का भ्रष्टकर्ता सिद्ध किया जा रहा है। मूल कथनो मे तोड-मरोड करके भोली जनता को बहकाया भी जा रहा है।

पूर्ण उद्धरण या प्रसंग मे से किसी एक अंश को लेकर बात कह दी जाए, तो उसका मूल अर्थ ही बदल जाता है। एक धार्मिक पुस्तक में लिखा था—'**भजन कभी मत करो जब तक कि तन और मन शुद्ध न कर लो** ' उस

पुस्तक के विरोधी आलोचक ने उस पुस्तक के अनुयायियों से कहा कि तुम बड़े मूर्ख हो, जो भजन करते हो। तुम्हारी पुस्तक मे तो लिखा हुआ है कि, भजन कभी मत करो। फिर तुम भजन क्यो करते हो ? ऐसे ही अनेक उद्धरण प्रस्तुत करके कुछ लेखक तुलसी को समाज का भ्रष्टकर्ता सिद्ध करने के लिए तथ्यो को तोड-मोडकर प्रस्तुत कर रहे हैं।

कुछ हिन्दू ऐसा भी कहते है कि तुलसी ने राम को ईश्वर बनाकर ठीक नही किया। मनुष्य ही रखते, तो अच्छा था। राम मनुष्य होते, तो हम वैसा बनने का प्रयास तब भी करते। उन लोगो मे से दो-चार के जीवन को मैं स्वय देखरहा हूँ। कमाल की बात है, यदि तुलसी के राम एकमात्र मनुष्य होते, तो वे लोग वैसे तुरन्त बन जाते: यद्यपि उनके समक्ष रामतीर्थ, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, राणाप्रताप आदि के जीवनादर्श मौजूद है, जो मनुष्य ही थे। तुलसी के राम मनुष्य होते, तो बिजली का बटन दबाते ही वे लोग फौरन राम बन जाते।

विचार किया जाए, तो तुलसी ने जिस समय और देश की जिस परिस्थिति मे **'रामचरितमानस'** लिखा, उसके लिए ईश्वर राम का चित्रण ही परमावश्यक था। आज भी तुलसी के ईश्वर राम हमारे जीवन मे हमारे अति निकट हैं। वे ही राम हमारे धैर्य हैं, हमारे संबल है; हमारे बल है। हमारी निराशा के क्षणो मे वे ही राम हमारी आशा हैं। आस्तिक हिन्दू के लिए, आस्थावान् हिन्दू के लिए राम सर्वशक्तिमान् है। जब सर्वशक्तिमान् है, तब वे राम मनुष्य-रूप में क्यो नही आ सकते ? यदि ईश्वर मे नरावतार की शक्ति नही, तो वह सर्वशक्तिमान् कैसा ? प्रत्येक हिन्दू ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानता है। तुलसी के ईश्वर राम भी सर्व शक्तिमान् है। उनमे नर बनने की पूरी शक्ति है, इसलिए तुलसी के ईश्वर राम कौशल्या के आँगन मे शिशु रूप मे प्रकट हो गये। नर-लीला करते समय नररूप धारी दशरथ-पुत्र राम में जो अभाव या दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती है, वे सासारिक मानव की सहज दुर्बलताएँ हैं। उन दुर्बलताओ के कारण ही मानस के राम के चरित्र में मानवीय जीवन की स्वाभाविकता आयी है।

कुछ लेखक तुलसी के राम मे दोष दिखाने के लिए शम्बूक-बध की बात कहते है कि राम ने शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध करके अच्छा नही किया। राम का यह घोर अन्याय और अत्याचार है। ऐसे लेखको को यह मालूम ही नही कि तुलसी के रामचरितमानस में शम्बूक प्रसंग है या नही ? शम्बूक-बध

का प्रसग वाल्मीकिरामायण मे और भवभूतिकृत उत्तररामचरित नाटक मे तो है; लेकिन, तुलसीकृत रामचरितमानस मे नही। तुलसी इतना सावधान कवि है कि शम्बूक-बध के प्रसग को उसने छुआ ही नही, यद्यपि पूर्ववर्ती कवि वाल्मीकि और भवभूति उस प्रसग को लिख चुके थे।

वाल्मीकि ने शूद्र तपस्वी शम्बूक के बध को समुचित ठहराया है। शम्बूक का बध होते ही इन्द्र और अग्निसहित सम्पूर्ण देवता राम के उस कृत्य को बहुत ठीक बताते हैं। वाल्मीकि राम के द्वारा शम्बूक का बध किये जाने मे राम का उत्साह भी व्यंजित करते है —"**निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघव** ।" (वाल्मीकि०, उत्तर०, सर्ग, ७६/४) भवभूति राम के खड्ग से शम्बूक का बध तो कराते है, किन्तु उनके करुणार्द्र राम का हाथ तलवार चलाने मे हिचकिचाता है। राम अपने दाहिने हाथ से कहते है– 'हे हस्त दक्षिण ! **मृतस्य शिशोर्द्विजस्य, जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्। रामस्य बाहुरसि निर्भर-गर्भखिन्न, सीता विवासनपटो: करुणा कुतस्ते** ॥" (उत्तरराम०, अक २/१०) महात्मा तुलसीदास को यह सब अन्याय-अत्याचार लगा; मानवता पर क्रूर प्रहार लगा। अत: वे मौन रहे; प्रसंग ही स्वीकार नही किया। 'मानस' मे रामकथा वास्तव मे रामराज्याभिषेक पर ही समाप्त हो जाती है।

'गीतावली' (उत्तर, पद, ३८) के अतिम पद की अन्तिम दो पक्तियो से भी प्रकट होता है कि तुलसीदास जी ने रामकथा की क्षीण रेखा को श्रीराम के राज्याभिषेक पर ही समाप्त कर दिया है।

'सीता-परित्याग' की वेदना से तुलसी भी स्वय व्यथित थे। उनका कोमल कविहृदय उस व्यथा की कथा को कहना चाहता भी न था; इसलिए उसका योजनाबद्ध वर्णन तुलसीदास ने कभी नही किया। प्रजापालक एव प्रजानु-रजक न्यायी राजा रामचन्द्र जी की जीवनसगिनी पतिव्रता सीता जी ही श्रीराघवेन्द्र को महाचिन्ताग्रस्त देखकर स्वय वनदृश्य-दर्शन का प्रस्ताव करती है। यह सकेत गीतावली मे भी मिलता है। गीतावली मे यह भी सकेत है कि राजा दशरथ अपनी पूर्ण आयु भोगने से पहले ही श्रीराम को अपनी शेष आयु देकर दिवगत हो गये थे। पिता की आज्ञा पालन करनेवाले श्रीराघवेन्द्र ने पिता की शेष आयु भोगी। वह आयु-अवधि राम-राज्याभिषेक के कुछ कालो-परान्त प्रारम्भ होती थी। श्रीराम ने अपनी आयु की कालावधि मे तो पत्नी सीता जी को अपने साथ रखा, लेकिन पिता की आयु की कालावधि मे सीता जी को त्यागना पड़ा; क्योकि दशरथ श्रीराम के पिता और सीता जी के ससुर थे तब सीता जी को पत्नीरूप में अयोध्या में साथ रखने से पाप-दोष लगता

था । ऐसी अवस्था में पतिपरायणा पतिव्रता सीताजी ने ही स्वयं प्रस्ताव रखकर विषम परिस्थितिजनित समस्या का समाधान प्रस्तुत किया था। इसका संकेतात्मक उल्लेख तुलसीदासकृत 'गीतावली' के उत्तरकाण्ड के २५ वें पद में मिल जाता है ।

जो तुलसी के '**मानस**' से परिचित नहीं, तुलसी पर वे भी तो छींटाकशी कर रहे हैं ।

तुलसी ने राम-कथा के माध्यम से समाज और परिवार के समक्ष जिन आदर्शों को प्रस्तुत किया है, आज के नैतिकताहीन समाज के लिए उनकी परमावश्यकता है । तुलसी का सदेश है कि प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि मे ज्ञान, अन्तःकरण मे भक्ति और शरीर में कर्म को लेकर अपना जीवन जीना चाहिए । बुद्धि, हृदय और कर्म के सच्चे समन्वय से ही मानव-जीवन सुखी बन सकता है । व्यक्ति-व्यक्ति से समाज बनता है, अत हमारा सम्पूर्ण समाज भी तभी सुखी रह सकता है ।

तुलसी पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि तुलसी ब्राह्मणवादी और शूद्रविरोधी है । इसके समर्थन मे वे इस अर्धाली को प्रस्तुत कर देते हैं—

"पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना ॥"
(मानस, अर०, ३४/२)

विचारणीय यह है कि यह प्रसगगत व्यक्तिगत कथन है या सर्वमान्यता केलिए सार्वभौमिक कथन है ? प्रसगगत व्यक्तिगत कथन सामाजिक स्तर पर स्वीकार नही किया जा सकता । दुर्वासा ब्रह्मर्षि है; पूज्य हैं । सब के लिए परम आदरणीय हैं । अभिमानी गधर्व ने भरी सभा मे उनका अनादर किया है । दुर्वासा ऋषि मे अनेक गुण थे, एक ही दोष था कि क्रोधी थे, अर्थात् शील-गुण से रहित थे । एक शील गुण न होने पर तथा अन्य सैकडों गुण होने पर भी दुर्वासा क्या तिरस्कृत किये जाने योग्य है ? कदापि नही । शूद्र शब्द से तात्पर्य है शूद्र गधर्व, जिसने विप्रवर दुर्वासा का तिरस्कार किया था, अत तुलसी का **विप्र**=दुर्वासा । **शूद्र**=कवध राक्षस । श्रीराम ने कवध राक्षस को निज धर्म की शिक्षा भी दी थी । **विप्र**=श्रेष्ठ । **शूद्र**=निकृष्ट ।

आज बहुत-से मनुष्य अर्थात् तथाकथित नारी-उत्थान के हिमायती कहते हैं कि तुलसी नारी-निन्दक हैं । तुलसी नारी को अवगुणो की खान बताते हैं । **इस कथन के समर्थन में** वे निम्नांकित उद्धरण प्रस्तुत करते हैं

"नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।।
साहस अनृत चपलता माया । भय अबिबेक असौच अदाया ।।
(मानस, लंका०, १६/२, ३)

यह क्रोधी और अहंकारी रावण का कथन है, मन्दोदरी से। अहंकारी रावण 'मानस' का घटिया पात्र है। अहंकारी के अहंकार के क्षणों के कथन प्रामाणिक और मान्य नहीं हो सकते। काव्यकार के मूल मन्तव्य को जानने के लिए पाठकों को सत्-पात्र और असत्-पात्र के कथनों मे विवेक रखना होगा। मंदोदरी बाद में यह भी कह देती है कि उसके पति का वैसा कथन मतिभ्रम के कारण है।

एक अर्धाली को लेकर कुछ लोगों ने तुलसी की बहुत निन्दा की है। वह है—

'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ।।"
(मानस, सुंदर०, ५६/६)

यह जड और अहंकारी समुद्र की उक्ति है, जो ग्राह्य नहीं हो सकती। अर्धाली के शब्दार्थ पर विचार करतेहुए तुलसी के विरोधी आलोचक उक्त उद्धरण मे पाँच गिनते है— (१) ढोल (२) गँवार (३) शूद्र (४) पशु (५) नारी।

शूद्र और नारी को लेकर तुलसी पर कीचड़ उछाली जाने लगी और ताडना का अर्थ डंडे से पीटना लिया जाने लगा, जबकि ताडना का अर्थ **'डाँट-डपट'** भी है अर्थात् सामान्यतया 'डाँट-फटकार'। दूसरे, ढोल के बाद **गँवार** के लिए भी ताड़न की बात कही गयी है। **'गँवार'** मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी आ सकते हैं। शूद्र को ही अधिक उचकाया जा रहा है। क्यो ? राजनीतिक चाल है।

कृपया शब्दार्थमर्मी पाठक ध्यान दें। उक्त उद्धरण मे तुलसी ने केवल तीन को लिया है—(१) ढोल (२) गँवारशूद्र (३) पशुनारी। ताडना के लिए तुलसी गँवारशूद्र और पाशविक वृत्ति की नारी को दंडनीय ठहराते हैं। सब शूद्रों को या सब नारियों को नहीं। इतने पर भी यह असत् जडपात्र समुद्र की उक्ति है; अतः कदापि ग्राह्य नहीं। तुलसी सद्वृत्तियों के पक्षधर हैं वे सद्वृत्तिया जिनमें हैं वे पात्र तुलसी के लिए ... ेय हैं

राक्षसराज रावण की पत्नी मंदोदरी तुलसी के लिए आदरणीय है, कामातुरा, कपटाचरणा और छलना शूर्पणखा आदरणीय नहीं। बहुत छोटी जाति की भीलनी शबरी भी तुलसी को मान्य है। निषाद जाति का गुह और केवट जैसा मल्लाह भी तुलसी के समान्य पात्र हैं। कर्मठ्ठी ब्राह्मण मुनि वशिष्ठ चित्रकूट पर वन्य जाति के निषाद गुह को प्रेम से गले लगाते हैं। श्रीराम भीलनी शबरी के बेर प्रेम से खाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमे तुलसी का नारी-सम्मान और हरिजन-सम्मान प्रकट होता है।

पुत्री पार्वती के जन्म पर हिमाचल को परम हर्ष होता है। तुलसी भी उस हर्ष मे सम्मिलित होते है। वह 'मानस' मे लिखते है—

"जब तें उमा सैल गृह जाई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई॥"

(मानस, बाल०, ६५/७)

राजा हिमाचल के घर मे पार्वती के जन्म से सम्पूर्ण सिद्धिया आ जाती है।

हिन्दू समाज मे नारी की परतन्त्रता से तुलसी दुखी थे। उन्होने देखा कि पहले नारी पुत्री के रूप मे अपने मायके मे माता-पिता के अनुशासन मे जीवन बिताती है, फिर विवाह हो जाने पर उसे पति के अनुशासन मे रहना पडता है। यदि दुर्दैव के प्रकोप से विधवा हो जाए, तो या तो उसे सास, ससुर, जेठ आदि के अनुशासन मे जीवन बिताना पडता है या फिर मायके मे भाई-भतीजो का उचित-अनुचित दबाव सहना पडता है। नारी की इसी आजीवन विवशता-परवशता के विरोध मे ही तुलसी की आवाज इन शब्दो मे उठी है—

"कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥"

(मानस, बाल०, १०२/५)

तुलसीदास का मुख्य प्रतिपाद्य 'भक्ति' है और उस भक्ति मे वर्णाश्रम धर्म का बधन नही है। तुलसी की भक्ति सदाचरण मे सयुक्त है। तुलसी कामादि-दोषरहित भक्ति के ही समर्थक है। आचारहीन पडितो और सन्यासियो की खिल्ली कलियुग के प्रभाव के माध्यम से तुलसीदास ने डटकर उडायी है। तुलसी के राम शबरी से कहते हैं कि हे भामिनी! मैं केवल भक्ति का नाता मानता हूँ।

सामाजिक चरित्र तथा राजनीतिक चरित्र के लिए '**मानस**' आदर्श ग्रथ है आज की गदी राजनीति को मानस के द्वारा ही सुधारा जा सकता है

जो भ्रष्ट राजनीतिज्ञ सत्ता की कुर्सी छोडना नही चाहते; यहाँ तक कि कुर्सी के लिए सदा दन्दफन्द ही करते रहते है, उनकी आँखो मे तुलसी-मानस का भरत-प्रसग ही ठीक रोशनी दे सकता है। भरत को अयोध्या की राजसत्ता-रूपी कुर्सी मिल गयी थी। फिर भी भरत ने उसे स्वीकार नही किया। अयोध्या मे तुलसी के भरत इस तरह रहे, जिस तरह कि एक भौरा चंपा के बाग में रहता है। तुलसी लिखते है—

"तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥"
(मानस, अयो०, ३२४/७)

आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा की सोलहवी शती मे राजा और राज्य के सम्बन्ध मे तुलसी जैसा निर्भीक और समाज-सुधारक कवि ही ऐसा उद्घोष कर सकता था—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥"
(मानस, अयो०, ७१/६)

आज भी तुलसी और तुलसी का 'रामचरितमानस' उतना ही कल्याणप्रद है, जितना कि सोलहवी शताब्दी मे था। उसकी युगीन प्रामगिकता निश्चित रूपेण आज भी ग्राह्य है और अभिनन्दनीय है।

